उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किये बिना विश्राम मत लो

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—१२ १९९३—जुलाई अंक—७

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

सम्पादक :

डॉ० केदारनाथ लाभ

सहायक सम्पादक

शिशिर कुमार मल्लिक

सम्पादकीय कार्यालय :

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,

छपरा—८४१३०१

(बिहार)

फोन। ०६१५२-४२६३६

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य—	५०० रु०
वार्षिक—	३० रु०
रजिस्टर्ड डाक से—	४५ रु०
एक प्रति—	४ रु०

रचनाएँ एवं सहयोग-राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

मन ही सब कुछ है। मनुष्य मन ही से बद्ध है और मन ही से मुक्त। मन मानो धोबी के यहाँ से धुलकर आया हुआ सफेद वस्त्र है; उस पर जो रंग चढ़ाओ वही चढ़ जाएगा। देखा न, अगर कुछ अंगरेजी सीख लो तो बात करते समय मुँह में अंगरेजी शब्द अपने आप आने लगते हैं। संस्कृत पढ़कर पण्डित श्लोक झाड़ने लगता है। मन को यदि कुसंगति में रखो तो वैसी ही बातचीत, वैसी ही विचार-धारा हो जाएगी। यदि भक्तों की संगति में रखो तो ईश्वरीय प्रसंग, ईश्वरचिन्तन, यही सब हुआ करेंगे।

(२)

अपनी अपनी जमीन को सभी लोग घेरा लगाकर अलग कर सकते हैं, परन्तु आकाश को कोई घेरकर खण्डित नहीं कर सकता। सभी खण्डित भूमि भागों के ऊपर एक अखण्ड आकाश विराजित है। अज्ञान के कारण मनुष्य अपने ही धर्म को सत्य और श्रेष्ठ समझता है; परन्तु चित्त में यथार्थ ज्ञान का उदय होने पर वह देखता है कि सभी धर्म मतों के पीछे एक अखण्ड सच्चिदानन्द विराजमान है।

(३)

भगवान् का नाम और चिन्तन तुम चाहे जिस रीति से करो, उससे कल्याण ही होगा। जैसे मिश्री की डली सीधी खाओ या टेढ़ी करके खाओ वह मीठी ही लगेगी।

(४)

जिस प्रकार माँ अपने बच्चों के स्वास्थ्य के अनुसार किसी के लिए दाल-भात तो किसी के लिए साबूदाने की व्यवस्था करती है उसी प्रकार भगवान् ने भी प्रत्येक मनुष्य के लिए उसके स्वभाव के अनुसार उपयुक्त साधना की व्यवस्था कर रखी है।

कबहूँ मन विश्राम न मान्यो

— गोस्वामी तुलसीदास

कबहूँ मन विश्राम न मान्यो ।
निसिदिन भ्रमत बिसारि सहज सुख, जहँ तहँ इंद्रिन तान्यो ॥१॥

जदपि विषय-सँग सह्यो दुसह दुख, बिषम जाल अरुझान्यो ।
जदपि न तजत मूढ़ ममताबस, जानतहूँ नहिं जान्यो ॥२॥

जनम अनेक किये नाना बिधि करम-कीच चित सान्यो ।
होइ न बिमल विवेक-नीर बिनु, बेद पुरान बखान्यो ॥३॥

निज हित नाथ पिता गुरु हरि सों हरषि हृदै नहिं आन्यो ।
तुलसिदास कब तृषा जाय सर खनतहि जनम सिरान्यो ॥४॥

भावार्थ—अरे मन ! तूने कभी विश्राम नहीं लिया । अपना सहज सुखस्वरूप भूलकर दिन-रात इन्द्रियों का खींचा हुआ जहाँ-तहाँ विषयों में भटक रहा है ॥१॥

यद्यपि विषयों के संग से तूने असह्य संकट सहे हैं और तू कठिन जाल में फँस गया है तो भी हे मूर्ख ! तू ममता के अधीन होकर उन्हें नहीं छोड़ता । इस प्रकार सब कुछ समझकर भी अनजान हो रहा है ॥२॥

अनेक जन्मों में नाना प्रकार के कर्म करके तू उन्हीं के कीचड़ में सन गया है, हे मन! विवेकरूपी जल प्राप्त किये बिना यह कीचड़ कभी साफ नहीं हो सकता। ऐसा वेद-पुराण कहते हैं ॥३॥

अपना कल्याण तो परम प्रभु, परम पिता और परम गुरु रूप हरि से है, पर तूने उनको हुलसकर हृदय में कभी धारण नहीं किया, (दिन-रात विषयों के बटोरने में ही लगा रहा) हे तुलसीदास! ऐसे तालाब से कब प्यास मिट सकती है, जिसके खोदने में ही सारा जीवन बीत गया ॥४॥

विश्व सभ्यता एवं स्वामी विवेकानन्द

स्वामी लोकेश्वरानन्द
सचिव, रामकृष्ण मिशन इंस्टीच्यूट ऑफ कल्चर
कलकत्ता

हमारे सामने जो विषय है वह थोड़ा कठिन है—स्वामी विवेकानन्द का विश्व सभ्यता पर प्रभाव। सबसे पहले हम समझ लें कि विश्व सभ्यता का अर्थ क्या है ? विश्व में अनेक सभ्यताएँ हैं। भारत में एक प्रकार की सभ्यता है। आप चीन जायँ, एक दूसरे प्रकार की सभ्यता पायेंगे वहाँ। किन्तु ये विभिन्न सभ्यताएँ ऊपरी तौर पर भिन्न हैं। तथापि उनमें कई बातों में समानता है। सभी सभ्यताओं का एक ही लक्ष्य है—आनन्द, सुख, सभी व्यक्तियों की सुखशान्ति। प्रत्येक सभ्यता हर व्यक्ति को सुखशान्ति प्रदान करने के लक्ष्य की ओर अग्रसर है।

लेकिन सुख को हम परिभाषित कैसे करें ? क्या इसका तात्पर्य भौतिक सुख-सुविधा से है—खाने के लिए अच्छा भोजन मिल जाय, पहनने को अच्छे वस्त्र मिल जायें, रहने को अच्छा घर मिल जाय ? हाँ, यह एक प्रकार का सुख है। जहाँ तक शरीर का सम्बन्ध है, हमें इन चीजों की आवश्यकता है, ये हमारे लिए अनिवार्य हैं। हमें निश्चित रूप से धन चाहिए, भौतिक सुख-सुविधा चाहिए। लेकिन वही सब कुछ नहीं। मनुष्य को जीवित रहने के लिए केवल रोटी नहीं, मानसिक सुख-शान्ति भी चाहिए। भौतिक सुख- सुविधा भी आवश्यक है, लेकिन उससे भी ज्यादा जरूरी है मन की सुख-शान्ति। सच्चा सुख शरीर में नहीं बल्कि मन में है। भारत की दौड़ इसी मनः सुख-शान्ति की ओर रही है। ऐसा नहीं कि भौतिक सुख यहाँ निन्दनीय और उपेक्षित रहा है, लेकिन लक्ष्य सर्वदा मन का सुख, हृदय की शान्ति रही है। जब हम पीछे मुड़कर हजारों साल पहले मोहनजोदड़ों के समय तक जा पहुँचते हैं तो पाते हैं कि उस समय देश उन सभी भौतिक सुख-सुविधाओं से परिपूर्ण था जो आज 'मोडर्न' कहलाने के लिए अनिवार्य मानी जाती है। नगर के मध्य सामान्य उपयोग के लिए विशाल स्नानगृह, स्विमिंग पूल, चौड़ी सड़कें, भव्य मकान, बेहतरीन मल-जल निकास व्यवस्था—आश्चर्य-जनक, अत्याधुनिक—एवं अन्यान्य नागरिक सुविधायें थीं, जो आज भी अप्राप्त हैं। लिहाजा भारत बुनयादी भौतिक सुख-सुविधा की आवश्यकता से विमुख नहीं रहा है। लेकिन, यहाँ इससे भी ज्यादा जरूरी मानी गयी मन की शान्ति। क्योंकि सच्चा सुख इन्द्रिय भोग में नहीं मन के परिष्कार में है। यही कारण है कि भारत में मानसिक स्तर हमेशा ऊँचा और श्रेयस्कर रहा है। मैं किसी को प्यार करता हूँ अगर वह बुद्धिमान है, शिक्षित है, हमें नयी रोशनी दे सकता है। मैं अंधेरे में भटक रहा हूँ, कुछ पाने के लिए टटोल रहा हूँ। आप मुझे रोशनी दिखा दे सकते हैं, आपसे मुझे रोशनी मिलती है और मैं आपको परम आदरणीय मानकर शिक्षक के रूप में स्वीकार कर लेता हूँ। मुझे ज्ञान का प्रकाश देने वाले गुरु अत्यन्त मामूली झोपड़ी में भले ही निवास करते हों, उनके पास मोटर, बंगला, ऐश आराम के सामान भले ही न हो, लेकिन फिर भी वे मेरे लिए ईश्वर हैं। जो हमे ज्ञान की रोशनी देता है वह परम पूज्य है, परम आदरणीय है। सचमुच मन

की शक्ति, ज्ञानशक्ति, विचार शक्ति ही वास्तविक शक्ति है। ब्रिटिश दार्शनिक जॉन रस्किन ने कहा है एक विचार सम्पूर्ण सेना की ताकत से कहीं अधिक शक्ति शाली होता है। भारत ने सर्वदा इसी मन की शक्ति में विश्वास किया और तदनुकूल यहाँ जो सभ्यता विकसित हुई वह शताब्दियों से आज तक अक्षुण्ण बनी है। भारत पर घोर विपत्तियाँ आयीं, विदेशियों ने भारत को कंगाल बना डाला, लेकिन भारत फिर भी जिन्दा है। वह कौन सी चीज है जिसने इसे जीवन्त बनाये रखा है, जबकि अति-प्राचीन और शक्तिशाली मानी जानेवाली ग्रीक, रोमन और अन्यान्य सभ्यता धराशायी हो गयीं, काल के गाल में समा गयीं। क्या कारण हैं इसका? हमें इसे ढूँढ़ना होगा। आधुनिक इतिहासकार बताते हैं कि इसका कारण यह है कि भारत ने भौतिक समृद्धि को जितना महत्व दिया जाना चाहिए था उतना ही दिया, उसके पीछे पागल नहीं हुआ। लेकिन, विचार की उदात्तता सर्वोपरि मानी गयी। यहाँ कोई व्यक्ति बड़े मकान में न रहे, एक दीन-हीन कुटिया में ही क्यों न रहता हो, फिर भी वह सुखी है। मेरे पास कुछ पुस्तकें हैं, मैं उन्हें पढ़कर आनन्दित होता हूँ। आपके पास कुछ अच्छे रिकार्डिंग हैं, उन्हें बजाकर सुनने में ही आपको सुख मिलता है। बिल्कुल सादा भोजन कर हम मस्त हैं। अत्यन्त साधारण घर में रहकर भी हम सुखी हैं, अत्यन्त मामूली वस्त्र धारण कर भी हमारे मन में सुख-शान्ति विराजमान है क्योंकि हमारा आदर्श रहा है—सादा जीवन उच्च विचार। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि आप किस प्रकार का भोजन ग्रहण कर रहे हैं, कैसा वस्त्र पहनते हैं, बस हमारे विचार परिष्कृत होने चाहिए। क्या आपने नहीं देखा हमारे देव-देवियां अल्पवस्त्रधारी हैं। उनके शरीर कोट से ढंके नहीं हैं, और न ही वे कमीज पहने हुए दीखते हैं—बिल्कुल ही साधारण, बहुत ही सादा। ऐसा क्यों? इसलिए कि यहाँ की जलवायु गर्म है। रूस में सालों भर काफी ठंड पड़ती है, इसलिए ओवरकोट तक की जरूरत होती है। लेकिन हमें कोट की भी जरूरत नहीं। कोई कह सकता है कि आप बहुत पिछड़े हैं, क्योंकि आपके पास कोट नहीं। लेकिन, जब भारत में उतने कपड़े की जरूरत ही नहीं तो हम क्यों धारण करें फिजूल के कपड़े। स्वयं जब जरूरत महसूस नहीं हुई तो हमारे मूर्तिकारों को देव-देवियों की मूर्तियां बनाते समय कोट पहनाने का ध्यान ही नहीं आया। हाँ बाहरी वैभव और आडम्बर को महत्व न देने वाले उन शिल्पकारों ने यह ध्यान अवश्य रखा कि देव-देवियों की मूर्तियों से उनकी सौम्यता, उनका आन्तरिक तेज और ऐश्वर्य अवश्य प्रकट हो।

हमारे ऋषि कन्दराओं-गुफाओं में रहते थे, लेकिन थे वे प्रकांड विद्वान, अत्यन्त प्रगतिशील, मौलिक, प्रबुद्ध। उनके विचार अक्षुण्ण हैं, शाश्वत हैं, हमारी अक्षय सम्पत्ति हैं। एक बार डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने कहा था—भारत एक विचार है, चिन्तन की एक दृष्टि है, एक जीवन दर्शन है। आधुनिक समय में इस विचार को, इस जीवन दर्शन को स्वामी विवेकानन्द विदेशों में ले गये। स्वामी जी ने कहा था; "मैं घनीभूत भारत हूँ।" सचमुच आज से सौ वर्ष पूर्व जब वे अमेरिका के शिकागो शहर में आयोजित विश्व धर्म महासभा में सारी दुनिया के कोने-कोने से आए प्रकांड विद्वानों और धर्मगुरुओं के बीच सनातन धर्म का संदेश सुनाने खड़े हुए थे, तो वह भारत बोल रहा था—कोई व्यक्ति नहीं था। वह-स्वामी विवेकानन्द भी नहीं, अपितु प्राचीन गौरवशाली भारत सिमट आया था उनमें फिर एक बार सारी भौतिकवादी दुनियाँ को आध्यात्मिक संदेश सुनाने। भारत माता की वाणी मुखरित हुई थी उस युवा संन्यासी के ओठों से जिसने कहा था—भगवान बुद्ध ने पूरब

को संदेश दिया था और वे पाश्चात्य देशों के लिए संदेश लेकर आया हूँ। उन्होंने कहा मैं तुम्हारे विज्ञान और टेक्नोलॉजी का स्वागत करता हूँ, मुझे खुशी है कि तुम्हारे देशों में भौतिक सुख समृद्धि है। लेकिन यह मत सोचो कि मानव जीवन के लिए इतना ही काफी है। खाओ, पीओ मौज करो क्या मानव जीवन का यही लक्ष्य है? कदापि नहीं। मनुष्य ने इन्द्रिय सुखों के लिए, सांसारिक विषय वासना के भोग के लिए नहीं जन्म लिया है, अपितु उसका जन्म ज्ञान-प्राप्ति के लिए, सत्य की खोज के लिए निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य तक पहुँचने के लिए हुआ है, जबतक कि उच्चतम सत्य न प्राप्त हो जाय। सौ वर्ष पूर्व स्वामी जी ने पाश्चात्य देशों को आगाह किया था—मैं देख सकता हूँ तुम युद्ध की ज्वालामुखी के कगार पर खड़े हो। वह ज्वालामुखी अगले बीस वर्षों में फूट पड़ेगा। सम्भवतः उन्होंने ऐसा १८९४--९५ में कहा था। और बीस वर्ष होते न होते मानवता ने १९१४ में प्रथम विश्वयुद्ध की विभीषिका देखी फिर द्वितीय विश्वयुद्ध भी छिड़ा—पहले से ज्यादा विनाशकारी, अत्यन्त प्रलयंकारी।

क्यों होती हैं लड़ाइयाँ? इसलिए कि हम केवल सांसारिक सुख-सुविधा को मानव जीवन का लक्ष्य मान लेते हैं। अगर आप कहें कि मैं सांसारिक विषय वासनाओं की पूर्ति के लिए जीना चाहता हूँ तो स्वभावतः मेरे और आपके बीच होड़ होगी, एक राष्ट्र और दूसरे राष्ट्र के बीच जंग छिड़ेगी। तब आपके पास घातक हथियार होंगे और मैं उससे भी ज्यादा विनाशकारी हथियार हासिल करने की कोशिश में लगा रहूँगा। राष्ट्र संघ की घोषणा पत्र इन शब्दों से शुरू होता है—"युद्ध का प्रारम्भ मनुष्य के हृदय में होता है।" युद्ध, मार-काट, खून-खराबा होता ही क्यों है? इस लिए कि युद्ध का बीज हृदय में अंकुरित होता है-- ईर्ष्या, लोभ, घृणा, क्रोध, शक, अविश्वास के रूप में। मैं आपको नहीं चाहता तो आपके सर्वनाश की कामना करता हूँ। सर्वप्रथम आपके मन में युद्ध बर्बाद देखने की इच्छा उत्पन्न होती है और फिर आप मेरा सर्वनाश करने पर तुल जाते हैं। पहले बकझक होती है, फिर हाथापाई। मैं आपको मार देना चाहता हूँ, आप मुझे मिटा देना चाहते हैं। यह बड़ा सामान्य किस्सा है। सदियों से ऐसा ही होता आया है।

लेकिन भारत एक ऐसा देश है जिसने युद्ध का निदान ढूँढा है और सारी मानवता को 'जीओ और जीने दो' का पाठ पढ़ाया है। सामरिक दृष्टि से शक्तिशाली होने के बावजूद इसने कभी भी किसी देश पर आक्रमण नहीं किया, क्योंकि इसकी दृष्टि समग्र रही है और मानवता को एकत्व का बोध कराया है आप और हम एक हैं—सारा विश्व एक ही मानव परिवार है—

'वसुधैव कुटुम्बकम्'। फिर किसकी जीत और किसकी हार, किससे द्वेष और किससे घृणा। भारत का संदेश है—सुख-शान्ति चाहते हो तो स्वयं पर विजय प्राप्त करो। भगवान बुद्ध ने कहा—'कौन असली विजेता है? जिसने स्वयं को जीत लिया।' यही भारत है कितना सुन्दर विचार है। दूसरों को काबू में करने की चाहत क्यों? बस अपने को अधीन कर लो। स्वामी विवेकानन्द ने सम्पूर्ण विश्व को महिमा- मंडित प्राचीन भारत का यह अमर संदेश सुनाया। स्वदेश वापस आने पर उन्होंने आह्वान किया: हे भारत! तुम्हें जीवित रहना ही होगा, अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए, सारी मानवता, समस्त मानव समाज व सभ्यता की रक्षा के लिए, मानवीय मूल्यों के संरक्षण के लिए। स्वामी जी मात्र हिन्दू नहीं थे, मात्र भारतीय नहीं थे। वे तो सारी दुनिया के थे, एक सर्वजनीन व्यक्ति थे, समस्त मानव समाज के मित्र थे जो कोई भी सत्य की खोज कर रहा है, स्वामी जी उनके साथ हैं। ❁

स्वामी विवेकानन्द की भारत परिक्रमा एवं धर्म महासम्मेलन की तैयारी

स्वामी विमलात्मानन्द
अनुवादक—ब्रह्मचारी गौरी शंकर
बेलुड़मठ

(भाग—३)

स्वामी विवेकानन्द ने भारत-परिक्रमा के समय एक ओर जिस प्रकार नित्य-नूतन अभिज्ञता प्राप्त की थी, उसी प्रकार दूसरी ओर उनके मनोजगत् में नूतन चिन्ता धारा भी प्रवाहित हुई थी। वेदान्त तत्त्व को कार्य में परिणत करने के लिए, गरीब-दुःखियों की सेवा करने के लिए, विभिन्न श्रेणी के सामान्य लोगों के बीच निर्विवाद वैदिक ज्ञान प्रचारित करने के संकल्प एवं जाति-विभाग के महाजाल में आवद्ध पंगु समाज की रक्षा के लिए वे सदा चिन्तित रहते थे। सनातन पंथी साधु समाज अपनी मुक्ति-साधना के अतिरिक्त अन्य लोगों के लिए सोचने के घोर विरोधी थे। किन्तु श्रीरामकृष्ण के पास स्वामीजी ने बिल्कुल भिन्न शिक्षा ग्रहण की थी। भारत परिक्रमा की अभिज्ञता से स्वामीजी समझ गये थे कि श्रीरामकृष्णदेव की शिक्षा कितनी यथार्थ थी। उन्होंने यह निश्चित किया, साधु समाज की इस एकांगिता पर आघात करना होगा। इन्होंने अपने गुरु भ्राताओं से कहा, सभी प्रचार कार्य में रत हैं, किन्तु वे सभी अज्ञात भाव से करें। मैं उसे समझ कर करूँगा। यहाँ तक कि यदि जो गुरु भाई हैं, वे भी उसका प्रतिबन्धक हों तो भी मैं छोड़ने वाला नहीं हूँ। मैं दीनहीन चाण्डाल के कुटीर पर्यन्त जाकर प्रचार कर आऊँगा। प्रचार का अर्थ है वहिः प्रकाश।[38] स्वामीजी को अनुभव हुआ था— भगवान् सर्वव्यापी हैं उन्होंने अपने मन में जिस प्रकार प्रगाढ़ दृढ़ता धारण की थी उसी प्रकार उन्होंने दूसरों के मन में साहस संचार करने की शक्ति भी प्राप्त की थी। उस समय श्रीरामकृष्ण के प्रति अर्पित 'देय-भाव' इसकी महत्ता उन्होंने समझी थी। श्रीरामकृष्ण देव के प्रभाव से स्वामीजी को हृदयंगम हुआ था आपात विच्छिन्न भारतखण्ड पुनः एक होगा।[39] भारत परिक्रमा के समय स्वामीजी का विभिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न प्रकार के आचार-व्यवहार एवं रीति-नीति के संग समग्र भाव से परिचय हुआ था। वे जीवन्त एव सक्रिय हिन्दू धर्म एवं विश्व संस्कृति में हिन्दूधर्म के बिश्वास एवं गंभीर अवदान की बात कहते थे।

सन् १८८९ ई० के जून महीने में बरानगर मठ से स्वामीजी पुनः परिभ्रमण के लिए निकल पड़े। गन्तव्य स्थल विहार के मुंगेर जिले में शिमुलतला। किन्तु अस्वस्थ होकर कुछ समय के

बाद पुनः वापस चले आये। तीर्थदर्शन की इच्छा से पुनः दिसम्बर (१८८९) में स्वामीजी वैद्यनाथ धाम गये। कुछ दिनों तक वहाँ रहने के बाद उन्हें संवाद मिला कि इलाहाबाद, चौकबाजार में डा० गोविन्द वसु के घर उनके गुरुभाई स्वामी योगानन्द अस्वस्थ पड़े हैं। अविलम्ब स्वामीजी गुरुभाई के सेवार्थ वहाँ उपस्थित हुए। मठ से वहाँ स्वामी शिवानन्द, स्वामी अभेदानन्द एवं स्वामी निरंजनानन्द गये। तीर्थराज प्रयाग के त्रिवेणी संगम में स्नानादि एवं ध्यान तथा शास्त्र विवेचन में उनलोगों का मन स्वभावतः उच्च स्थान पर बँधा रहता था।

इलाहाबाद के वकील (बाद में जज) गिरीशचन्द्र वसु की स्वामीजी ने युक्ति एवं विचार के माध्यम से वेदान्त-दर्शन के सार-तत्व को समझाया। वे इतने दिनों तक थियोसफी-दर्शन के विश्वासी थे। उन्होंने जोर देकर कहा: स्वामीजी ने क्या किया? हमारे दस वर्षों के परिश्रम को उन्होंने व्यर्थ कर किया।', स्वामीजी ने कहा, "तुम्हारा परिश्रम व्यर्थ हुआ या नहीं इससे मेरा क्या?" त्रिवेणी में स्वामीजी सिन्दुक नामक एक रामायत वैष्णव वैरागी को भण्डारा दिया था। उनकी तीक्षण दृष्णि के सम्मुख माधवदास नामक एक वैरागी 'मन्त्रोषधरुद्ध—सर्प की तरह मस्तक अवनत किये रहे, कुछ बोल नहीं पाये।

एक धार्मिक मुसलमान फकीर का दर्शन कर स्वामीजी अभिभूत हुए। बोले थे, "उनके मुख की प्रत्येक रेखा ने यह बतला दिया कि वे परमहंस अवस्था को प्राप्त हुए है।"[41] इलाहाबाद में गुरुजी अमूल्य से मिरचा खाने की प्रतियोगिता में स्वामी जी विजयी हुए थे। गोविन्दचन्द्र वसु ने स्मृति में लिखा है—'इस साधारण घटनासे भी स्वामीजी का माधुर्य एवं हृदयस्पर्शी भाव लक्षित हुआ था।...अति सामान्य कार्य में भी उनका गाम्भीर्य एवं माधुर्य उसी प्रकार प्रकाशित होता, जैसा वेदान्त के उच्च तत्त्व की व्याख्या करने में होता। इलाहाबाद में अवस्थान के समय का मधुर स्मृति-चित्र अंकित किया है गोविन्द चन्द्रजी ने, "एक दिन स्वामीजी, उनके गुरुभ्राता एवं मैं दयारामजी के आश्रम में उपस्थित हुए। दिन भर अतीव आनन्द की जो धारा बह रही थी, वार्ता-प्रसंग; क्या हृदय स्पर्शी प्यार एवं बीच-बीच में हास्यादि का कौतुक रहस्य, यह सब मेरे हृदय में जागृत रहा है एवं अल्पदिनों की बात मेरे मन में बस गयी है। वह दृश्य ही मेरे नयनों के समक्ष सर्वदा रहता है। सायंकाल में हमलोग लौटे। स्वामीजी का परिधान मात्र एक कौपीन एवं शरीर ढकने के लिए एक मोटा कम्बल, एवं पाँव सदैव नग्न रहते थे। विभिन्न विषयों की स्मृति हाँलाकि विस्मृत हो गयी है, किन्तु उनका प्रसंग इतना ज्वलन्त एवं जीवन्त था कि उनकी बातें कहने से ही सब जागृत हो जाती हैं। उनके मधुर संग, स्नेहपूर्ण मुख, ज्योतिर्मय कलेवर, एवं विशाल हृदय की बात जब मन में आती है तो मन पुलकित हो उठता है।... मैंने प्रयाग में चालीस वर्ष अवस्थान कर नाना प्रकार के साधुओं का संग पाया है एवं कुम्भमेला से लेकर यहाँ तक अनेक प्रकार के साधु महात्माओं के दर्शन किये हैं तथा चिकित्सा व्यवसाय में रहने से बहुत प्रकार के लोगों के साथ मिला हूँ। किन्तु स्वामी विवेकानन्द के जैसे इतनी कम उम्र में इस प्रकार का त्याग एवं वैराग्य अन्य किसी के अन्दर नहीं देखा। उनकी ओजस्वी वाणी, तीक्ष्ण दृष्टि, दूरदर्शिता, गाम्भीर्य एवं साहसपूर्ण उक्ति माधुर्यमय सान्त्वनावाक्य तथा कौतुक व्यंगादि—सभी का एक साथ समावेश कहीं भी नहीं देखा।[43]

स्वामीजी इलाहाबाद से गाजीपुर गये, जो वाराणसी से प्रायः पचहत्तर किलोमिटर पूर्व है। वहाँ गंगातीर पर विख्यात सिद्धयोगी, सुपंडित पवहारी बाबा का आश्रम था। स्वामीजी का वहाँ

जाने का मुख्य उद्देश्य था उनका दर्शन लाभ। वे वहाँ २१ जनवरी १८९० ई० को पहुँचे। सर्वप्रथम गोराबाजार के बालबन्धु सतीशचन्द्र मुखोपाध्याय एवं बाद में अफीम ऑफिस के बड़ा बाबू गगनचन्द्र राय के घर स्वामीजी प्रायः तीन महीनों तक थे। पवहारी बाबा की गुफा के समीप ही गगन बाबू का उद्यान भवन था। इस घर के एक वटवृक्ष के नीचे स्वामीजी ज्यादा समय व्यतीत करने लगे। गाजीपुर से लिखे स्वामीजी के बारह पत्र पाये गये है। ऐसा कहा जाता है कि अधिकांश पत्र इसी पेड़ के नीचे बैठ कर लिखे गये थे।

गाजीपुर में पाश्चात्य सभ्यता का निर्लज्ज प्रवेश देखकर स्वामीजी अत्यन्त मर्माहत हुए। उन्होंने प्रमदाबाबू को लिखा (२४ जनवरी १८९०) "इस स्थान पर सभी अच्छे हैं, बाबूलोग बड़े भद्र हैं, किन्तु बहुत ही पाश्चात्य-प्रभावापन्न; एवं दुःख का विषय यह कि मैं पाश्चात्य भाव के ऊपर खड्गहस्त प्रहारक हूँ।...यह विचार कि कपड़ों की सभ्यता फिरंगी लोग लाये हैं...कि भगवान् शुक की जन्मभूमि पर आज वैराग्य को पागलपन एवं पाप कहते हैं। अहो भाग्य ?"[15]

गाजीपुर में स्वामीजी के परिव्राजक जीवन ने एक विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है। यहाँ रामकृष्ण विवेकानन्द के सम्पर्क के एक अभिनव दृश्य का अभिनय हुआ था। स्वामीजी उस समय कमर के वात एवं अजीर्ण रोग से खूब कष्ट पा रहे थे। इसी से स्वामीजी ने यह निश्चिय किया कि सिद्ध हठयोगी पवहारी बाबा के पास हठयोग की दीक्षा लेकर शरीर की रक्षा करेंगे। उनकी अपनी कही हुई बात है, "एक दिन मन में हुआ श्रीरामकृष्णदेव के पास इतने दिनों तक रहकर भी इस रुग्ण शरीर को दृढ़ करने का कोई उपाय तो पाया नहीं। सुना है पवहारी बाबा हठयोग जानते हैं। उनके पास हठयोग क्रिया जानकर शरीर को दृढ़ बनाने के लिए कुछ दिन साधना कर रहा था।" ऐसा भाव लेकर [illegible] बाद में उन्होंने अनुरोध किया और वे राजी हो गये। दीक्षा की पूर्व रात्रि स्वामीजी बिस्तर पर लेटे हुए थे। वे गंभीर चिन्ता में मग्न थे। [illegible] मन मानसिक द्वन्द्व से पीड़ित था। उन्होंने कहा, "उस समय मैंने देखा श्री ठाकुर हमारी खाट की बगल खड़े होकर हमारी ओर इस दृष्टि से देख रहे कि मानो इस विषय से वे बहुत दुःखित हुए हों। मैं उनके पास मस्तक बेच दिया है, फिर भी एक दूसरे व्यक्ति को गुरु रूप में स्वीकार करूँगा। इस बात से मन अनायास लज्जित हो गया एवं मैं उनकी तरफ देखता रहा। इसी तरह बोध हुआ कि [illegible] घंटे व्यतीत हो गये। किन्तु हमारे मुख से कोई बात नहीं निकली। इसके बाद हठात् वे अन्तर्धान हो गये। इस दर्शन के बाद मन अजब ढंग का हो गया। दीक्षा लेने का विचार स्थगित करना पड़ा परन्तु दो दिनों के बाद पुनः पवहारी बाबा से मंत्र प्राप्त करने की अभिलाषा मन में जगी। उस दिन भी रात्रि में पुनः श्रीठाकुर का आविर्भाव हुआ बिल्कुल पहले की तरह। इसी तरह बार-बार इक्कीस दिन उनका दर्शन पाने के बाद दीक्षा लेने का संकल्प बिल्कुल त्याग दिया। मन में हुआ जब भी मन्त्र लेने की इच्छा मन में करता हूँ उसी समय इस रूप का दर्शन होता है, अतः यह अनिष्ट कारक या हानिकर होगा।

इस घटना से स्वामीजी को एक अनुपम उपलब्धि हुई। उनके अन्तः स्थल से एक गंभीर प्रेरणा आयी,"...हे रामकृष्ण ! तुम ही हमारे एकमात्र आराध्य हो, मैं तुम्हारा क्रीतदास ! हमारे इस आत्महारा दौर्बल्यपूर्ण अपराध को क्षमा करो प्रभो!" अपनी इस मर्मानुभूति की बात ३ मार्च १८९० को प्रमदाबाबू को लिखे पत्र में उन्होंने लिखा, "और किसी मित्र के पास नहीं जाऊँगा—अपने आप में रहो मन, जाओ ना किसी के घर।...अब यही

सिद्धान्त है कि—श्रीरामकृष्ण के समतुल्य और कोई नहीं, वे अपूर्व सिद्धि और अहेतुकी दयाके सिन्धु हैं। वे प्रगाढ़ सहानुभूति एवं जीवन के लिए हैं—इस जगत में और नहीं—यह भी है, वे अवतार हैं—जैसा कि वे स्वयं कहते थे, या वेदान्त दर्शन में जिन्हें नित्य सिद्ध महापुरुष लोक हितार्थ मुक्तोऽपि शरीर ग्रहण कारी कहा गया है, निश्चित निश्चित इति में मति: एवं उनकी उपासना ही पातंजलोक्त महा पुरुष-प्रणिधानाद्वा।"

संदर्भ सूची

३८. युगनायक विवेकानन्द—प्रथम ख०—पृ०—२४१
३९. स्वामी विवेकानन्द—प्रमथनाथ वसु, प्रथम खण्ड—पृ० सं०—१६२
४०. स्मृतिर आलोय स्वामीजी—पृ०—१८९
४१. युगनायक विवेकानन्द—प्र० ख०—पृ०—२५३
४२. स्मृतिर आलोय स्वामीजी—पृ०—१८९
४३. वही—पृ०—१८९—१९१
४४. स्थानीय विवेकानन्द—अनुरागियों द्वारा उपलब्ध।
४५. स्वामी विवेकानन्द वाणी ओ रचना, ६वाँ खण्ड—पृ०—३०४
४६. वही—प्र० ख०—पृ०—२३१
४७. वही—पृ०—२३२
४८. विवेकानन्द—चरित—सत्येन्द्रनाथ मजुमदार—२रा खण्ड—पृ०—१५१
४९. वाणी ओ रचना—पृ०—३२०—३२१

हर व्यक्ति हुकूमत करना चाहता है, पर आज्ञा पालन करने के लिए कोई तैयार नहीं है। पहले आदेश पालन करना सीखो, आदेश देना फिर स्वयं आ जायेगा। पहले सर्वदा दास होना सीखो तभी तुम प्रभु हो सकोगे।

—स्वामी विवेकानन्द

शंकर चरित्र

—इन्द्रदयाल भट्टाचार्य
अनुवादक— स्वामी विदेहात्मानन्द
रामकृष्ण मिशन, रायपुर (म.प्र.)

तृतीय अध्याय

साधना और सिद्धि

नर्मदाजी का तट योगियों की साधना का स्थान है। हजारों वर्षों से कितने ही योगियों ने वहाँ पर साधना कर सिद्धि की उपलब्धि की है। शंकर के जन्म से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व से ही गोविन्द नाम के एक सिद्ध योगी नर्मदातट की एक गुफा में समाधि-मग्न थे। शुकदेव की शिष्य परम्परा में गौड़पाद नाम के एक संन्यासी थे; गोविन्दपाद इन्हीं के शिष्य थे। ऐसी किम्वदन्ती थी कि ये योगी किसी दिव्य-कार्य को पूरा करने के लिए समाधिस्थ हैं और जो नर्मदा के प्रवाह को एक घड़े में भरकर रख सके ऐसा व्यक्ति यदि आकर उनका शिष्यत्व ग्रहण करे, तो इनकी समाधि टूट सकती है। उनकी समाधि भंग होने पर ज्ञान प्राप्ति की आशा में अथवा अहेतु की शक्ति से प्रेरित होकर अनेक साधक उस गुहा के पास निवास करते थे।

शंकर ने गोविन्दपाद का नाम सुन रखा था। बीच-बीच में न जाने क्यों उनके मन में इन योगी का दर्शन करने की प्रबल इच्छा होती थी। अब गृहत्याग करने के वाद उन्होंने गोविन्दपाद को ही अपने गुरु के रूप में वरण किया। उनके समान एक वालक के लिए इतना लम्वा पथ एकाकी पारकर वहाँ पहुचना कितना कठिन था, इस बात पर उन्होंने पल भर भी विचार नहीं किया। नर्मदा तट को अपना लक्ष्य बनाकर वे निरन्तर उत्तर दिशा की ओर चलने लगे।

कितने ही नदी, पर्वत, वन, नगर और मैदानों को पार करते हुए, कितने ही लोगों की बाधा व विरोध को अस्वीकार करते हुए और कितनी ही अनिद्रा तथा अनाहार सहते हुए बहुत दिनों तक चलकर शंकर नर्मदातट पर स्थित गोविन्दपाद की गुहा में आ पहुँचे। परम आग्रह के साथ उन्हें प्रणाम करके वे भक्तिगद्गद कण्ठ से गुरुदेव की स्तुति करने लगे। बड़े आश्चर्य की बात है कि धीरे-धीरे गोविन्दपाद की समाधि भंग हुई; पलकें उठाकर वे स्थिरदृष्टि से बालक शंकर की ओर देखते रहे। इतनी आशा व उत्साह के साथ कठोर उद्यम के बाद शंकर को गुरु का दर्शन मिला था। आनन्दविह्वल होकर वे उनके चरणों में लोट गये। गुहा के समीप रहनेवाले योगीगण यह दृश्य देखकर आश्चर्यचकित रह गये।

गुरु-शिष्य दोनों ही एक दूसरे को पाकर परम आनन्दित हुए। समाधि से उतरनेवाले योगी केवल शुद्धचित्तवाले साधक भी सिद्ध पुरुष के अतिरिक्त किसी अन्य को गुरु का आसन प्रदान नहीं कर सकते। गोविन्द ने देखा कि यही वह अधिकारी है जिसके लिए वे नरदेह में रहकर हजार वर्ष से प्रतीक्षा कर रहे थे; इसका देह-मन अति पवित्र

और पूर्णज्ञान को धारण करने में सक्षम है। शंकर को भी अपने अन्तर में बोध हुआ कि ये ही उनके ज्ञानदाता सद्गुरु हैं। शिष्य पूरे मनोयोग से गुरु की सेवा में लग गये और गुरु भी सहस्त्र वर्षों से संचित अपनी अध्यात्म-सम्पदा बालक के हृदय में ढालने को आग्रहान्वित हुए।

वर्षा का मौसम था। कई दिनों से निरन्तर वृष्टि के कारण नर्मदा का जलस्तर काफी बढ़ गया था। एक दिन जब गोविन्दपाद अपनी गुफा में समाधिमग्न थे, तभी नर्मदा का पानी खूब बढ़ने लगा और ऐसा प्रतीत होने लगा कि उनकी गुफा डूब जाएगी। ऐसी अवस्था में शिष्यगण कुछ ठीक नहीं कर पा रहे थे कि क्या किया जाय। एक ही उपाय उन लोगों की समझ में आ रहा था कि समाधिमग्न गुरुदेव को ही उठाकर अन्यत्र ले जाया जाय। परन्तु बालक शंकर इस सलाह-मशवरे में सम्मिलित न होकर एक अन्य ही उपाय में लगे हुए थे। उन्होंने एक घड़ा लाकर गुफा के द्वार पर रख दिया और पहले जैसे उन्होंने सरल विश्वास के साथ अलवाय नदी की धारा को मार्ग बदलने का अनुरोध किया था वैसा ही दृढ़ विश्वास के साथ उन्होंने नर्मदा को भी उस कुम्भ में प्रविष्ट होकर स्थिर हो जाने को प्रार्थना की। जल की धारा अचानक ही पतली होकर कलकल ध्वनि के साथ तीव्र वेग से घड़े में प्रविष्ट होने लगी। पानी का एक बूंद भी घड़े से छलककर बाहर नहीं गिरा। शंकर की अद्भुत् योगसिद्धि देखकर सभी लोग स्तम्भित रह गये।

शास्त्र-अध्ययन के दौरान जैसे सुन लेने मात्र से ही शंकर का सीखना हो जाता था, वैसे ही अब साधनाकाल में भी गुरु के उपदेशानुसार प्रयास करते ही उनका मन समाधिस्थ होने लगता था। गहन से गहनतर समाधि के सोपानों पर अनायास ही आरोहण करते हुए मन-बुद्धि के पार जाकर शंकर को निर्विकल्प समाधि की अनुभूति हुई। उन्हें बोध होने लगा कि उनका आदि, मध्य और अन्त नहीं है; उनके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है; वे एक अन्तहीन, अबाध निरन्तर अनुभूति मात्र—पूर्ण स्वतंत्र, पूर्ण स्वाधीन हैं; मन नहीं है, अतः कोई स्मृति भी नहीं है; भोग्य नहीं है, अतः भोक्ता भी नहीं है: अतः सुख भी नहीं है और दुःख भी नहीं है; है तो केवल एक असीम शान्ति—जो एक अखण्ड सत्ता है, एक ज्ञेयहीन ज्ञान है और एक अनिर्वचनीय आनन्द है।

शिष्य को चरम समाधि की उपलब्धि हो जाने पर गोविन्दपाद के आनन्द की सीमा न रही। पिछले हजार वर्षों से काल के कराल हाथों से वे बड़े यत्नपूर्वक जिस महारत्न की रक्षा हृदय में रखकर करते आ रहे थे, आज उसे सुयोग्य शिष्य के हाथों में सौंपकर वे भारमुक्त हुए। जिस दैवी-कार्य को सम्पन्न करने हेतु शंकर का आविर्भाव हुआ था, गोविन्दपाद ने अब उन्हें उसी में नियोजित करने का संकल्प किया।

शंकर का मन-प्राण समाधि-सागर के अनन्त आनन्द-रस में निमग्न था, परन्तु एक अज्ञात आकर्षण उन्हें पुनः मानवीय जगत में उतार लाया। तब वे सम्पूर्ण विश्व को मृगमरीचिका के समान भ्रममात्र बोध करने लगे; और समस्त जीवों को माया से भ्रान्त होकर व्यर्थ कष्ट पाते देख उनके हृदय में प्रबल करुणा का उद्रेक हुआ।

स्वामी गोविन्दपाद ने उनसे कहा, "द्वापर युग के अन्त में जब ब्रह्मविद्या लुप्तप्राय हो रही थी तो भगवदावतार महर्षि कृष्णद्वैपायन ने उसकी रक्षा की। गुरुपरम्परा से वही विद्या मुझे प्राप्त हुई और साथ ही यह आदेश मिला कि बौद्ध-विप्लव के पश्चात् तुम्हारा आविर्भाव होने पर

मैं वह विद्या तुम्हें प्रदान करूँ । इसीलिए तुम्हारी प्रतीक्षा में मैं इस गुफा में हजार वर्ष तक समाधि-मग्न रहा । अब तुम वेद मतानुसार ब्रह्मसूत्र* के एक भाष्य की रचना करो और शिष्यों को ब्रह्मविद्या की शिक्षा देकर अपने जीवन का उद्देश्य सफल करो ।।" शंकर को वाराणसी में जाकर अपना कार्य आरम्भ करने का उपदेश देकर गोविन्दपाद महासमाधि में लीन हुए ।

प्रचार

बौद्ध धर्म के प्रभाव से जिस प्रकार वैदिक धर्म लुप्तप्राय हो गया था, वैसे ही अधिकांश तीर्थ भी परित्यक्त और विस्मृत हो गये थे । कहते हैं कि काशीधाम उन दिनों अरण्य में परिणत हो गया था और ग्वाले वहां पर गायें चराया करते थे । यह किम्वदन्ती पूर्णत: सत्य न हो तो भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन दिनों काशीधाम की अवस्था बड़ी खराब थी । गुरु का आदेश पाकर शंकर वहाँ पहुँच गये । चारों ओर यह समाचार फैल गया कि एक बाल-संन्यासी युवकों, प्रौढ़ों तथा वृद्धों को अत्यन्त पाण्डित्य के साथ शास्त्र पढ़ा रहा है और दल के दल लोग इस अद्भुत बालक को देखने आने लगे ।

निर्विकल्प समाधि के द्वारा निर्गुण ब्रह्म की अनुभुति कर लेने के कारण शंकर को बोध होने लगा कि यह जगत् स्वप्न में दृष्ट नगरी के समान नितान्त अस्वाभाविक है, मृगमरीचिका के समान भ्रान्ति मात्र है । कभी-कभी उन्हें बोध होता यह स्वत: उच्छ्वसित तथा उद्वेलित एक जड़समुद्र है, इसमें चैतन्य का लेश तक नहीं है; इसका कोई प्रयोजन या उद्देश्य नहीं है; देह, मन, बुद्धि— सब कुछ 'मैं' से स्वतंत्र है, कठोर वैराग्य की सहायता से इनसे मुक्त होकर निर्गुण ब्रह्मसमुद्र में लीन होना मनुष्य के लिए शान्तिलाभ का एकमात्र उपाय है । भक्ति और उपासना की बात उनके मन में उदित नहीं हुई । उनका मन समाधिसागर से निकलने को इच्छुक न था । किसी अनिर्वचनीय कारणवश कभी-कभी चित्समुद्र में माया की छाया पड़ने से जब उनके मन में 'मैं-मैं' का बोध आता था, तब उनके हृदय में तीव्र करुणा का उदय होने पर भी, कठोर वैराग्य उत्थित होकर उसे ग्रास कर लेता था । वे केवल गुरु का स्मरण करके ही यन्त्रवत् शिष्यों को उपदेश देने लगे; इसमें उनका अपना आग्रह या उत्साह आदि कुछ भी न था ।

शंकर के इस उदासीन भाव को दूर करने तथा उनके चित्त में लोकहित के लिए प्रबल आग्रह जगाने को काशीश्वरी माँ अन्नपूर्णा ने एक विचित्र उपाय से उन्हें सगुण ब्रह्म का तत्त्व समझा दिया ।

एक दिन गंगास्नान को जाते समय शंकर ने देखा कि एक युवती बीच रास्ते में अपने पति का मृतदेह रखकर उसके अन्तिम संस्कार हेतु लोगों से सहायता माँग रही है । लोगों के आवागमन में असुविधा होते देख शंकर ने युवती को शव एक किनारे खिसका लेने को कहा । युवती ने कहा, "उसी को खिसक जाने को कह दो न, बेटा !" युवती की मूर्खता पर नाराज होकर शंकर ने कहा, "इस मृतदेह में क्या हिलने-डुलने की शक्ति है ? इसे किनारे करो ।"

युवती ने पूर्ववत् गम्भीरता के साथ कहा, "शक्ति के बिना थोड़ा भी नहीं हिला जा सकता ?"

शंकर और भी आपा खोते हुए बोले, "क्या असम्भव बात कह रही हो ?"

---

*ब्रह्मविद्या के शास्त्र को उपनिषद कहते हैं । उसमें अनेक दुर्बोध बातें हैं । महर्षि द्वैपायन व्यास ने उपनिषदों को बोधगम्य करने के लिए एक सूत्रमय व्याख्या रची । उन्हीं सूत्रों को ब्रह्मसूत्र या वेदान्तसूत्र कहते हैं ।

युवती ने कहा, "असम्भव क्यों होगा, बेटा? आदि-अन्त-रहित यह प्रकृति शक्तिहीन, चेतनाहीन होकर भी यदि हिल-डुल सकती है, तो इतना-सा शव क्यों नहीं खिसक सकेगा?"

शंकर यह सुनकर भौंचक्के रह गये। ऐसी बात नहीं कि शास्त्र में कही गयी सगुण ब्रह्म की बात उनके मन में उठती ही न थी; परन्तु निर्गुण ब्रह्मानुभूति के प्रवाह में पड़े वे अब तक उस ओर ध्यान ही नहीं दे सके थे। अब उनके इसी चिन्तन में डूब जाने पर वह शव और युवती दोनों अदृश्य हो गये और उनकी आँखों के सामने से अचानक एक परदा सा उठ गया। उन्होंने देखा कि वही निर्गुण ब्रह्म सामने, पीछे, ऊपर, नीचे—सब कुछ परिपूर्ण करते हुए एक विराट् मूर्ति में गुणमय होकर विराजमान है; यह अखिल ब्रह्माण्ड उनका शरीर है और लीला मात्र के लिए वे सृष्टि-स्थिति-प्रलय आदि कार्यों में रत हैं। शंकर के हृदय में सागर की तरंगों के समान भक्ति की ऊर्मियाँ उत्थित होने लगीं, शरीर रोमांचित हो उठा, नेत्रों से अश्रु झरने लगे, अन्दर-बाहर सर्वत्र आद्याशक्ति का अनुभव कर वे अस्फुट स्वर में 'माँ-माँ' कहते व्याकुल हो गये। इस घटना ने उनके हृदय में यह तथ्य दृढ़तापूर्वक अंकित कर दिया कि निर्गुण ब्रह्म ही सगुण सक्रिय ब्रह्मशक्ति भी हैं।

शंकर ने ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनों ही भावों की प्रत्यक्षानुभूति की। तथापि ज्ञान का पूर्ण विकास होने पर परिपक्व अवस्था में जो निरन्तर ब्रह्मानुभव होता है, उससे वे अब भी वंचित थे। सहज अवस्था में अब भी ब्राह्मण-चाण्डाल, ग्राह्य-त्याज्य आदि भाव उन्हें पीड़ित किया करते थे। वे वेदों का उद्धार करने को अवतीर्ण हुए थे, अतः उन्हें ज्ञान की चरम सीमा तक पहुँचना होगा। इसीलिए इस बार स्वयं महादेव ही शंकर की शिक्षा में प्रवृत्त हुए।

एक बार गंगातट की ओर जाते समय मार्ग में शंकर के सामने एक चाण्डाल आ गया। वह चाण्डाल चार कुत्तों को साथ लिए नशे में मतवाला होकर पूरे रास्ते पर अधिकार किये हुए चला आ रहा था। कुत्तों और चाण्डाल से स्पर्श न हो जाय इस भय से संकुचित हो शंकर रास्ते के एक किनारे खड़े हो गये और चाण्डाल से पथ छोड़ देने को कहा। परन्तु चाण्डाल उसी प्रकार चलते हुए वेदान्त के उच्च तत्त्व कहने लगा। वह बोला, "कौन किसको स्पर्श करेगा? एक को छोड़ दूसरी वस्तु ही कहाँ है? तुम किसके स्पर्श-भय से संकुचित हो रहे हो? आत्मा तो किसी का स्पर्श नहीं करती, उसका भी कोई स्पर्श नहीं कर सकता।" चाण्डाल के मुख से ऐसे ज्ञान की बातें सुनकर शंकर अद्वैतबोध और अपने व्यवहार की असंगति को समझकर लज्जित हो गये। गुरुज्ञान से चाण्डाल के चरणों में उनके अवनत होते ही उसने रजतगिरि-निभ श्वेतकाय सदाशिव का रूप धारण कर लिया। भगवान शिव पर दृष्टि पड़ते ही शंकर सम्पूर्ण जगत् को शिवमय देखने लगे। उन्हें बोध हुआ कि ब्रह्माण्ड में सबकुछ चैतन्यमय है, जड़ कुछ भी नहीं; कुण्डल, वलय आदि आभूषण एक ही स्वर्ण से निर्मित हैं, वैसे ही चैतन्य से सृष्टि की सारी चीजें निर्मित हैं। चारों ओर के मन्दिर उन्हें जीवन्त दिखने लगे; काष्ठ, पत्थर, यहाँ तक कि धूलकण तक जीवन्त और जाग्रत प्रतीत होने लगे। उनकी दृष्टि जिधर भी गयी उन्हें चेतन को छोड़ कहीं जड़ नहीं दीख पड़ा। अपना शरीर, मन, बुद्धि आदि सबकुछ उन्हें चैतन्यमय बोध होने लगा। कहीं पर थोड़ा-सा 'मैं' बोध रह जाने के कारण उन्हें विविध वस्तुओं के आकार मात्र दीख रहे थे, उस 'अहं' का क्षण भर में विलोप हो जाय तो तभी समस्त अनुभव भी समाप्त हो जाते। निर्गुण और निष्क्रिय ब्रह्म का ही एक अन्य रूप में अनुभूति कर शंकर आनन्दविभोर हो गये। अनुभूति का प्रथम वेग प्रशमित होने पर महादेव ने

शंकर को आशीर्वाद दिया और वेदान्त-प्रचार में लग जाने का उपदेश देकर अन्तर्धान हो गये।

तब से शंकर की एक अद्भुत अवस्था हो गयी। कभी तो वे बाह्य ज्ञान खोकर जड़वत् प्रतीत होते, कभी भगवद्भक्ति से विह्वल हो जाते और कभी लोगों के दुःख से द्रवित होकर लोगों में ज्ञान वितरण करने को व्यग्र हो उठते। शिष्यगण परम यत्न और बड़ी सावधानी के साथ उनकी सेवा करने लगे।

क्रमशः इन अनुभूतियों में थोड़ी कमी होने लगी और उनके शरीर में 'मैं'-बोध थोड़ा-थोड़ा लौट आया। परन्तु वह थोड़ा-सा अहंकार ही मानो समाधिसागर में निरन्तर डूबने-उतराने लगा। इसी को 'विद्या का मैं' कहते हैं। इस 'मैं' में दया के अतिरिक्त दूसरी कोई भी वृत्ति नहीं रह जाती। ईश्वर से प्राप्त उस दयावृत्ति से प्रेरित होकर शंकर कार्य में लग गये। परन्तु किसी भी कार्य के प्रति उन्हें अनुराग या विराग का बोध नहीं होता था, मन में वासना का लेश तक नहीं उदित होता था। तब वे स्वार्थबोध रहित भगवान के हाथों के यंत्र मात्र हो गये।

दल के दल लोग शंकर के उपदेश सुनने को आने लगे। वे भी उत्साहपूर्वक आगन्तुकों को शिक्षा देने में प्रवृत्त हुए। अनेक लोग उनके शिष्य हुए। चित्सुक, आनन्दगिरि आदि संसारविरागी योगीगण आकर उनके पास जुटने लगे। एक दिन एक अजीब प्रियदर्शन बालक आकर शंकर के चरणों में पड़ गया। उसके सविनय व्यवहार और अपूर्व मुखकान्ति से उसके अन्तर का निर्मल भाव अभिव्यक्त हो रहा था। सनन्दन था उसका नाम। मैसूर के दक्षिण में कावेरीतट के चोलप्रदेश में उसका जन्म हुआ था। बचपन से ही वह भगवान की प्राप्ति के लिए व्याकुल था। काफी काल तक एक पर्वत पर एकाकी रहकर उसने नृसिंहदेव की आराधना की थी। किसी महापुरुष की कृपा से उसे इष्टलाभ हुआ। नृसिंह भगवान ने उसे वर दिया कि वह जब भी स्मरण करेगा, तभी उनका दर्शन पायेगा। परन्तु इससे उसे शान्ति नहीं मिली। मन कामनाओं से चंचल होकर उसे पीड़ित करने लगा। इष्टदेव को अपनी मनोवेदना बताने पर उन्होंने कहा, "मानव-मात्र को शान्ति देने के लिए महादेव स्वयं ही धरा पर अवतीर्ण हुए हैं। तुम जाकर उनका आश्रय प्राप्त करो।" इसीलिए सनन्दन उन्हें ढूँढते हुए सैकड़ों कोस का पथ पार करते हुए काशी में आये। शंकर द्वारा शिष्य के रूप में गृहीत होने के बाद वे कायमनोवाक्य से गुरुसेवा, शास्त्रपाठ तथा साधना में लग गये।

शंकर के पास न केवल जिज्ञासु मुमुक्षुगण, अपितु शास्त्रचर्चा करने पण्डितगण तथा विविध मतों पर तर्क करने विभिन्न सम्प्रदायों के लोग भी आया करते थे। बारह वर्ष के इस बालक का असाधारण पाण्डित्य, वाग्विदग्धता और असीम ज्ञान देखकर सभी विस्मित रह जाते। बालक तर्क में अजेय, शास्त्रव्याख्या में सरस्वती और ज्ञान-गाम्भीर्य में शिव के तुल्य था। उन्हें कोई मनुष्य समझता ही न था। उनके मुखमण्डल पर स्वर्गीय आभा थी, उनके मधुर कण्ठ में गम्भीरता का समावेश था और उनके प्रत्येक चाल-चलन में सिंह-समान तेजस्विता के साथ बाल सुलभ लालित्य का सम्मिश्रण था। बालक की सौम्य मुखश्री का प्रथम दर्शन ही सबके हृदय में स्नेह-रस का संचार करता, तदुपरांत उसके असंख्य गुण मन को मोहित कर लेते।

भाष्य रचना

गुरु और महादेव के आदेश पर शंकर ने सर्वप्रथम वेदान्त शास्त्र की व्याख्या लिखना आरम्भ किया। परन्तु काशी में इसमें लोगों के आवागमन के बीच ग्रन्थ-लेखन सम्भव न था, अतः निर्जन में

शास्त्र चिन्तन और व्याख्या प्रणयन के निमित्त वे अपने शिष्यों के साथ बदरिकाश्रम चले गये। वहाँ पर उन्होंने उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र पर 'भाष्य'* नामक व्याख्या लिखी। शिष्यगण गुरु के साथ रहकर मोक्षशास्त्र का अध्ययन और शंकर द्वारा प्रचारित अद्वैततत्त्व पर विचार तथा साधना सीखने लगे। इन्हीं सब कार्यों में आचार्यदेव के लगभग चार वर्ष बीत गये।

पद्मपाद

उनके शिष्यों में सनन्दन ही सर्वाधिक बुद्धिमान और गुरुसेवापरायण थे। क्षण भर के लिए भी वे गुरुदेव का संग नहीं छोड़ते थे। इसके फलस्वरूप आचार्य रचित भाष्यों को अधिक पढ़ने तथा उनका मर्म भलीभाँति समझने का अवसर उन्हें अन्य शिष्यों की अपेक्षा अधिक मिला था। इस कारण उनके गुरुभ्रातागण उनसे ईर्ष्या करने लगे। शंकर ने इसे समझकर एक उपाय से यह भ्रम दूर कर दिया।

एक दिन सनन्दन किसी कार्यवश अलकनन्दा नदी के उस पार गये हुए थे, तभी शंकर किसी आवश्यकता से उनका नाम लेकर पुकारने लगे। गुरु की पुकार सुनकर सनन्दन इतने विह्वल हो गये कि सामने बह रही नदी की बात भूलकर वे सीधे दौड़ते हुए गुरु की ओर आने लगे। उच्च स्वर में गुरु की पुकार सुनकर वहाँ उपस्थित सभी शिष्यों की दृष्टि सनन्दन की ओर उन्मुख हुई। उन्होंने देखा कि सनन्दन के प्रत्येक कदम रखने के पूर्व ही नदीगर्भ से एक एक पद्म खिलकर उनके चरण रखने के लिए जगह बनाते जा रहे हैं। उसी तन्मयता में डूबे सनन्दन गुरु के पास आ पहुँचे।

इसे देख ईर्ष्यालु शिष्यगण सनन्दन का प्रभाव समझकर मन ही मन लज्जित हुए। तब से उनका नाम हुआ—पद्मपाद।

पुनः काशी में

शंकर की आयु अब समाप्तप्राय थी। गुरु के आदेश का उन्होंने यथासाध्य पालन किया था। जब तक सूखे पत्ते के समान शरीर गिर नहीं पड़ता, तब तक धर्मप्रचार करते हुए शिवक्षेत्र वाराणसी में रहकर ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करने के लिए वे बदरिकाश्रम से विदा हुए। शंकर के काशी पहुँचने का संवाद पाकर पुनः वहाँ धर्मपिपासुओं का मेला लग गया। पुनः तर्क-वितर्क, वेदान्त-व्याख्या, शिष्यत्व-ग्रहण आदि कार्य दुगने वेग से चलने लगे।

वेदव्यास का आदेश

एक दिन एक वृद्ध ब्राह्मण आकर ब्रह्मसूत्र की एक व्याख्या के बारे में उनके साथ तर्क करने लगे। वे भी शंकर के समान महाज्ञानी प्रतीत हो रहे थे। बालक और वृद्ध के बीच का तर्क क्रमशः जम उठा। दोनों को ही वेद-वेदान्त कण्ठस्थ थे और दोनों की बुद्धि कुशाग्र के समान सूक्ष्म थी। वे दोनों इतने मतवाले हो उठे कि नित्यकर्म के समय को छोड़ निरन्तर आठ दिन तक उनके बीच तर्क का स्रोत प्रवाहित होता रहा। पण्डितगण वह अभूतपूर्व तर्क-युक्ति सुनने का आग्रह लेकर स्थिर चित्त से बैठे रहते। तर्क क्रमशः इतने सूक्ष्म विषय तक जा पहुँचा कि वह पण्डितों के लिए भी दुर्बोध्य हो उठा।

पद्मपाद के मन में एक घोर सन्देह का उदय हुआ और वह यह कि सामान्य मनुष्य में इन वृद्ध

*शास्त्र व्याख्या के द्वारा अपने दार्शनिक मत की स्थापना के हेतु अन्य पक्षों के मत का खण्डन तथा स्वपक्ष समर्थक युक्ति तथा वेदादि शास्त्र से प्रमाण प्रदर्शित करने पर उस व्याख्या को भाष्य कहते हैं, यथा—शंकर भाष्य, रामानुज भाष्य। सामान्य रूप से शास्त्र की व्याख्या करने पर उसे टीका कहते हैं, यथा—श्रीधर स्वामी की टीका, आनन्दगिरि की टीका।

ब्राह्मण के समान बिना बीज का होना सम्भव नहीं। इस वृद्धावस्था में भी इनका शास्त्र चर्चा में प्रबल उत्साह और तीक्ष्ण स्मरण शक्ति में किंचित् भी ह्रास नहीं हुआ है। इनकी युक्तियाँ प्रखर एवं अकाट्य हैं और हर श्लोक में कौशल है। मानो इन्होंने सम्पूर्ण जीवन वेदादि शास्त्रों का अध्ययन तथा आलोचनाओं में लगे रहकर इन सब विषयों का असीम ज्ञान प्राप्त किया हो। ये व्यासदेव को छोड़ कर भला दूसरे कौन हो सकते हैं? उनके विषय में शंकर के मन में भी ऐसा ही सन्देह जगा था। पद्मपाद का मनोभाव सुनकर उनका सन्देह और भी दृढ़ हो गया। आठवें दिन शंकर ने विनम्रतापूर्वक ब्राह्मण का परिचय पूछा। व्यासदेव अब अपने को प्रच्छन्न न रख सके। आचार्यदेव अतीव आनन्द के साथ उनकी स्तुति करने लगे। व्यासदेव ने भी स्नेहार्द्र होकर शंकर को प्रभूत आशीर्वाद दिया। शंकर ने अपने भाष्य से प्रमुख अंशों को पढ़कर उन्हें सुनाया। व्यासदेव ने शंकर की अपूर्व तथा प्रांजल व्याख्या की खूब प्रशंसा की।

शंकर का कार्य पूरा हो गया था और आयु समाप्त हो चली थी। संयोग और सौभाग्यवश आज व्यासदेव भी उपस्थित थे; शंकर ने उनके समक्ष महासमाधि लेने की इच्छा व्यक्त की। शिष्यगण अपने गुरुदेव की अल्पायु की बात जानते थे; तथापि आज इस आनन्द के बीच यह दुःखद बात सुनकर वे सभी असहाय शोकार्त होकर सजल नेत्रों से व्यासदेव की ओर देखने लगे। त्रिकालज्ञ महर्षि प्रसन्नचित्त से कहने लगे, "वत्स शंकर, यह सत्य है कि तुमने वेदों का मर्मार्थ अपने ग्रन्थ में लिखा है तथा अपने शिष्यों को बताया है, परन्तु इतने से ही क्या वेदों का उद्धार हो गया? यदि तुम इसका प्रचार न करो तो तुम्हारा मत भी अन्यान्य मतों के समान ही एक लघु सम्प्रदाय का मत मात्र रह जाएगा। भारत में सैकड़ों धर्ममत उत्पन्न हुए हैं। मेरे ब्रह्मसूत्र की कितनी ही गलत व्याख्याएँ प्रचलित हैं और वैदिक मत के नाम पर कितने ही तरह के अनाचार मनुष्य का सर्वनाश कर रहे हैं। तुम स्वयं ही इन समस्त मतावलम्बियों के साथ शास्त्रार्थ करके यदि उन्हें परास्त न करो और तुम्हारे द्वारा व्याख्यात वेदोक्त ब्रह्मविद्या ही ऋषिसम्मत सर्वोत्तम धर्म है, यह ठीक-ठीक प्रमाणित किये बिना तुम्हारा भाष्य निष्फल हो जाएगा।"

उन्होंने और भी कहा, "कुमारिल के आप्राण चेष्टा से नास्तिक बौद्धों का प्रभाव थोड़ा बहुत घटा तो है, परन्तु अब भी उनकी संख्या नगण्य नहीं है; विशेषकर उनके मत का प्रभाव अब भी प्रबल है। और कुमारिल ने भी वेदों के केवल कर्मकाण्ड का ही प्रचार किया है। ज्ञानकाण्ड का भलीभांति प्रचार हुए बिना बौद्ध धर्म का प्रभाव देश से दूर नहीं होगा और धर्म की ग्लानि भी समाप्त नहीं होगी।

"यदि तुम सोचते हो कि तुम्हारे मेधावी शिष्यगण विरुद्ध मतावलम्बियों को तर्क में परास्त कर ब्रह्मविद्या का प्रचार करने में सक्षम हैं, तो मैं पूछता हूँ कि क्या तर्क में परास्त कर देने मात्र से ही धर्म प्रचार हो जाता है? ब्रह्मतत्त्व क्या केवल तर्क के द्वारा ही प्रचारित होता है और उत्कृष्ठ मत के रूप में उसकी प्रतिष्ठा हो जाने से ही क्या धर्मरक्षा हो जाती है? अद्वैत ब्रह्म की अनुभूति कराने की जो महाशक्ति तुम्हारे भीतर प्रकट हुई है, उसे वितरण किये बिना लोग ब्रह्मविद्या को कैसे समझेंगे और केवल तर्क-युक्ति के द्वारा समझाने से भला क्या उपकार होगा?

"अतएव तुम ब्रह्मविद्या के प्रचार तथा वितरण के हेतु और भी कुछ काल मानव देह में निवास करो। मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारी आयु और भी सोलह वर्ष बढ़ जाय और तुम सर्वत्र जयलाभ करो। कुमारिल भट्ट अब भी जीवित हैं। वेद के

कर्मकाण्ड से ज्ञानकाण्ड की श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए तुम सर्वप्रथम प्रयाग जाओ और कुमारिल को परास्त करके अपना मतावलम्बी बनाओ।"

शंकर में अहं-बोध बिल्कुल भी न था, इसीलिए किसी भी विषय में उनकी प्रवृत्ति या अप्रवृत्ति नहीं थी। जैसे स्थिर चित्त से वे देहत्याग को प्रस्तुत हो रहे थे, वैसे ही स्थिर चित्त के साथ उन्होंने महर्षि वेदव्यास का आदेश भी स्वीकार किया। व्यासदेव उन्हें आशीष देकर अन्तर्धान हो गये। शिष्यगण आनन्दमग्न होकर आचार्यदेव की विजय-लीला देखने को उत्सुक हो उठे। (क्रमशः)

विवेक शिखा—स्थायी कोष के दाता

११.	श्री रामलायक सिंह	—	सम्होता (छपरा)	२५ रुपये
१२.	डा० एस पी० भार्गव	—	अजमेर	१०० रुपये
१३.	श्री राम छविला सिंह	—	मुजफ्फरपुर	२५ रुपये
१४.	श्री निखिल शिवहरे	—	दमोह (म० प्र०)	१५१ रुपये
१५.	श्रीमती उषारानी कर्ण	—	सुरसंड, (सीतामढ़ी)	१०० रुपये
१६.	श्री पी० सी० सरकार	—	नरेन्द्रपुर (प० बं०)	१०० रुपये
१७.	श्रीमती मीरा मित्रा	—	इलाहाबाद	२०१ रुपये
१८.	श्री गोपाल शं० तायवाडे	—	अमरावती (महाराष्ट्र)	१०० रुपये
१९.	श्री महादेव शि० गुंडावार	—	भद्रावती (महाराष्ट्र)	५० रुपये
२०.	श्री राजीव कुमार राजू	—	सैदपुर, पटना-४	३१ रुपये
२१.	श्री राज सिंह	—	गाजियाबाद (उ० प्र०)	५० रुपये
२२.	श्री चन्द्रं मोहन	—	टुण्डला (उ० प्र०)	६८५ रुपये
२३.	श्री के० अनूप	—	अरुणाचल प्रदेश	२० रुपये
२४.	श्री शतदल साधु खान	—	सोनारपुर(पश्चिम बंगाल)	१०० रुपये
२५.	श्री ए० जी० डगाँवकर	—	यवतमाल	५१ रुपये
२६.	श्रीमती उषा गुप्ता	—	रायपुर (म० प्र०)	२०० रुपये
२७.	श्री पी० राम	—	पटना (बिहार)	२५१ रुपये
२८.	टी० रघुवीर राव	—	उडुवी (कर्नाटक)	२५ रुपये

निवेदन— १. स्थायी कोष के लिए दान सम्पादकीय पते पर भेजने की कृपा करें।
२. चेक या ड्राफ्ट "विवेक शिखा" के नाम से भेजें।

पथ निर्णय

ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द

[ब्रह्मलीन श्रीमत् स्वामी आत्मानन्द जी महाराज रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर एवं नारायणपुर (म० प्र०) के संस्थापक थे। इन्होंने प्रस्तुत कविता की रचना मात्र १३ वर्ष की उम्र में की थी। इसका रचना काल सन् १९४२-४३ ई० है। इस कविता से स्पष्ट है कि ईश्वरप्राप्ति की आन्तरिक कामना उनमें बचपन से ही कितनी प्रगाढ़ थी। सं०]

जीवन पथ पर मैं खड़ा हुआ
कुछ सोच रहा था विस्मृत-सा
जाऊँ किस पथ पर इधर-उधर
या प्रभु के घर जो अमृत-सा ॥
या वृन्दावन या गोकुल में
या मथुरा में यमुना-तट पर।
या चला चलूँ अवधपुर-नगर,
या काशी में गंगा-तट पर ॥
या हिमगिरि को प्रस्थान करूँ
या करूँ कहीं अज्ञात वास।
मन सोच रहा था इसी तरह,
आया अन्तर से मधुर हास ॥
मन बैठ गया, आत्मा बोली,
ऐ ईश-भक्त ! ऐ मनुज-रत्न।
ईश्वर तो सभी जगह में है
पाओगे यदि तुम करो यत्न ॥
वह अन्तर्यामी द्रष्टा है,
है सब का प्रभु, सब का स्वामी।
यह नाम रूप सब मिथ्या है,
वह है रूपी, वह है नामी ॥
तुम करो करुण-स्वर से पुकार,
होकर पवित्र तन-मन-वच से।
पाओगे उसको तुम भाई,
उस सृष्टा को दृढ़ निश्चय से ॥
मन फूल उठा होकर प्रसन्न,
जब ज्ञान हुआ तम भी भागी।
मैं बढ़ा चला हो तेजमान,
हो ईश-दरस का अनुरागी ॥

एकाग्रता मन की शक्ति है

डॉ० प्रभा भार्गव
बीकानेर

शिक्षा मनुष्य को सभ्य एवं सुसंस्कृत बनाती है । वस्तुतः प्रत्येक नागरिक का पढ़ा लिखा होना आवश्यक है ताकि निहित स्वार्थ रखने वाली संस्थाएं और व्यक्तिगण द्वारा उनका शोषण रोका जा सके । वस्तुतः शिक्षा का उद्देश्य मानव निर्माण करना है । परन्तु आज की शिक्षा मानव मन के सम्बन्ध में बहुत कम जानकारी उपलब्ध कराती है । आधुनिक मनोविज्ञान मन के स्वरूप का कुछ ज्ञान अवश्य प्रदान करता है लेकिन पाठ्यक्रम के किसी भी स्तर पर विद्यार्थियों के चंचल मन को एकाग्र करना अपनी वासनाओं को नियंत्रित करना तथा अहंकार पर विजय प्राप्त करना नहीं सिखाया जाता । परिणामतः असफलताओं की संख्या में वृद्धि । सत्य तो यह है कि बाह्य प्रकृति के नियमन के साथ अन्तःप्रकृति के नियमन की प्रवृत्ति पर विशेष ध्यान दें । सामान्य मनुष्य अपनी विचार-शक्ति का नब्बे प्रतिशत अंश व्यर्थ नष्ट कर देता है और इसलिए वह निरन्तर भारी भूलें करता रहता है । प्रशिक्षित मनुष्य अथवा मन कभी कोई भूल नहीं करता । हम एक क्षण के लिए भी तो स्वयं अपने मन पर शासन नहीं कर पाते, यही नहीं, किसी विषय पर उसे स्थिर नहीं कर सकते और अन्य सबसे हटाकर किसी एक बिन्दु पर उसे केन्द्रित नहीं कर सकते फिर भी अपने को स्वतंत्र कहते हैं । अनियंत्रित और अनिर्दिष्ट मन हमें सदैव नीचे की ओर ही धकेलता है ।[2]

आज वस्तुस्थिति तो यह है कि प्राचीन मूल सिद्धांतों का चिरन्तन सत्य-समूह जिसने हमें उत्साह एवं साहस प्रदान किया उसकी उपेक्षा की गयी और उसके स्थान पर नयी सामाजिक संस्कृति ने स्थान ग्रहण कर लिया है परिणामतः आज शैक्षणिक मापदण्ड भी बदल रहे हैं । अतः हम देखते हैं कि स्वामी विवेकानन्द की शिक्षाओं में जीवन की समस्याओं का समाधान सहज ही सुलभ हो जाता है । ये समस्याएं चाहे किसी व्यक्ति की हो, समाज की हो या देश की । उनके शब्द सामान्य नहीं— शक्ति से भरपूर तथा ओजस्विता से पूर्ण हैं और यह ओजस्विता आध्यात्मिक जनित है । उनकी वाणी से हमें उत्साह तथा आलोक प्राप्त होगा जिससे हम राष्ट्र का निर्माण सही अर्थों में ठीक ढंग से कर सकें ।

विश्व के सभी महापुरुष, साधु और सिद्ध पुरुषों ने एक जन्म में ही, समय को कम करके, उन सब अवस्थाओं का भोग कर लिया है, जिनमें से होते हुए साधारण मानव करोड़ों जन्मों में मुक्त होता है । एक जन्म में ही वे अपनी मुक्ति का मार्ग तय कर लेते हैं । वे कोई चिन्ता नहीं करते, दूसरी बात के लिए एक निमिषमात्र भी समय नहीं देते । उनका पल भी व्यर्थ नहीं जाता है । इस प्रकार उनकी मुक्ति का समय घट जाता है । एकाग्रता का यही अर्थ है कि शक्ति संचय की क्षमता को बढ़ाकर समय को घटा लेना । मनुष्य और पशु में मुख्य अन्तर उनकी मन की एकाग्रता की शक्ति में है । किसी भी प्रकार के कार्य में सारी सफलता उसी एकाग्रता का परिणाम है । एकाग्रता की शक्ति में अन्तर के कारण ही एक मनुष्य दूसरे

मनुष्य से भिन्न होता है। छोटे से छोटे आदमी की तुलना ऊँचे से ऊँचे आदमी से करो, अन्तर मन की एकाग्रता की मात्रा से होता है।[5]

स्वामी विवेकानन्द की मान्यता है कि यह एकाग्रता जितनी अधिक होगी, उतना ही अधिक मनुष्य ज्ञान लाभ करेंगे, कारण यही ज्ञान लाभ का एकमात्र उपाय। 'नान्या. पन्था विद्यते अयनाय।" मोची यदि जरा अधिक मन लगाकर काम करे तो वह जूतों को अच्छी तरह से पोलिश कर सकेगा। रसोइया एकाग्र होने से भोजन को अच्छी तरह से पका सकेगा। अर्थ का उपार्जन हो चाहे भगवद् आराधना हो, जिस काम में जितनी एकाग्रता होगी, वह कार्य उतने ही अधिक अच्छे प्रकार से सम्पन्न होगा। द्वार के निकट जाकर बुलाने से या खटखटाने से जैसे द्वार खुल जाता है, उसी भाँति केवल इस उपाय से ही प्रकृति के भंडार का द्वार खुलकर प्रकाश बाढ़ रूप में बाहर आता है।[6] उनकी धारणा रही है कि मन की शक्तियों को एकाग्र करने के सिवा अन्य किसी प्रकार के संसार में ये समस्त ज्ञान उपलब्ध हुये हैं। यदि प्रकृति के द्वार पर आघात करना मालूम हो गया उस पर कैसे धक्का देना चाहिए, यह ज्ञात हो गया, तो बस प्रकृति अपना सारा रहस्य खोल देती है। उस आघात की शक्ति और तीव्रता एकाग्रता से ही आती है। मानव मन की शक्ति की कोई सीमा नहीं। वह जितना ही एकाग्र होता है उतनी ही उसकी शक्ति एक लक्ष्य पर आती है, बस यही रहस्य है।[0]

स्वामी विवेकानन्द की एकाग्रता अपूर्व थी। विदेश से लौटने के बाद उनके कक्ष में इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के पूरे सेट को देखकर शिष्य शरतचन्द्र चक्रवर्ती ने कहा "इतनी पुस्तकों को पढ़ने के लिए पूरा एक जीवन भी यथेष्ट नहीं है" सुनकर स्वामीजी ने कहा— 'क्या कहा? इन दस पुस्तकों से इच्छानुसार मुझसे प्रश्न करो सबका उत्तर दूंगा।" वस्तुतः शिष्य जानते नहीं थे कि इस बीच उन्होंने पुस्तक के दस खण्ड पढ़कर समाप्त कर दिये हैं और इस समय वे ग्यारहवां खण्ड पढ़ रहे हैं। स्वामीजी के कथनानुसार परीक्षा लेकर वे आश्चर्य चकित रह गये। स्वामीजी ने उनके प्रश्नों का उत्तर ही नहीं दिया बल्कि कई बार इन्साइक्लोपीडिया की भाषा तक को वैसा का वैसा दुहराकर दिखा दिया। उन्होने कहा कि "देखो ब्रह्मचर्य और एकाग्रता से सम्पूर्ण ज्ञान एक मुहूर्त में प्राप्त हो जाता है सुनने मात्र से ही स्मरण हो जाता है।"

वे परामर्श देते हैं कि एक भाव लेकर सदा उसी में विभोर होकर रहें। सोते जागते सब समय उसी को लेकर रहें। तुम्हारा मस्तिष्क, स्नायु, शरीर के सर्वांग उसी के विचार से पूर्ण रहे। दूसरे सारे विचार छोड़ दो। यही सिद्ध होने का उपाय है। यदि हम सचमुच स्वयं कृतार्थ होना दूसरों का उद्धार करना चाहें, तो हमें और भी भीतर प्रवेश करना होगा।[7] उन्होंने एक बहुत बड़े संन्यासी का उदाहरण देते हुए कहा कि अपना भोजन बनाने के पीतल का बर्तन ऐसे चमकाते थे कि सोने जैसे दमकने लगते थे। यह कार्य वे उतनी ही सावधानी एवं तन्मयता से करते थे जैसे अपना पूजन एवं जपध्यान। विदेश में दर्शनशास्त्र के अध्यापक पोल डॉयसन स्वामीजी की असाधारण स्मरण शक्ति देखकर विस्मित रह गये—स्वामीजी ने उन्हें बताया कि उनकी स्मरण-शक्ति का रहस्य है— मन का संयम और एकाग्रता।

स्वामीजी ने मुख्यतः शिक्षा में ध्यान के केन्द्रीकरण पर बल दिया। "ज्ञान को प्राप्त करने के लिए केवल एक ही मार्ग है, वह है—एकाग्रता।" मन की एकाग्रता ही शिक्षा का सम्पूर्ण सार है। ज्ञान प्राप्ति के लिए छोटे-बड़े सभी व्यक्तियों को

इसी मार्ग का अवलम्बन करना पड़ता है। रासायनिक व्यक्ति अपनी प्रयोगशाला में अपने मन की समस्त शक्तियों को एकत्र करके, एक ही केन्द्र में स्थित करता है और फिर तत्वों पर उन्हें प्रक्षेप करता है उसमें तत्व विश्लेषित हो जाते है तब उसे ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। ज्योतिषी अपने मन की शक्तियों को एकाग्र करके एक ही केन्द्र में स्थित करता है तथा दूरदर्शी यंत्र के द्वारा उन्हें अपने विषयों पर लगाता है···चाहे विद्वान अध्यापक हो चाहे मेधावी छात्र हो, चाहे अन्य कोई व्यक्ति हो यदि वह किसी विषय के जानने का प्रयत्न कर रहा हो तो उसे उपर्युक्त रीति से ही काम लेना होगा। अर्थात् एकाग्रता की शक्ति ही ज्ञान के खजाने की एकमात्र कुँजी है। शिक्षक को ध्यान एकाग्र करने में शिक्षार्थी की सहायता करनी चाहिए।[8]

स्वामीजी ने ध्यान को एकाग्र करने की पहली शर्त ब्रह्मचर्य पालन को बताया। उन्होंने स्पष्ट किया कि बारह वर्ष तक अखण्ड ब्रह्मचर्य पालन करने वाले को शक्ति प्राप्त होती है। पूर्ण ब्रह्मचर्य से प्रबल बौद्धिक तथा आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न होती है। बासनाओं को वश में कर लेने पर शुभ लाभ होते हैं। काम शक्ति को आध्यात्मिक शक्ति में परिवर्तित कर लो, यह शक्ति जितनी प्रबल होगी, उससे उतना ही अधिक कार्य हो सकेगा... कठिन ब्रह्मचर्य के पालन से कोई भी विद्या थोड़े ही समय में प्राप्त की जा सकती है, एक बार सुनी अथवा जानी हुई बात को याद रखने की अचूक स्मरण शक्ति प्राप्त हो जाती है। ब्रह्मचारी के मस्तिष्क में प्रबल कार्य शक्ति तथा अमोघ इच्छा शक्ति रहती है। स्वामीजी का कहना था कि प्रत्येक बालक को ब्रह्मचर्य का अभ्यास करने को शिक्षा देनी चाहिए तभी उसमें श्रद्धा एवं विश्वास की उत्पत्ति होगी। सदैव तथा सभी अवस्थाओं में मन, वचन तथा कर्म से पवित्र रहना ही ब्रह्मचर्य कहलाता है। अपवित्र कल्पना उतनी ही बुरी होती है, जितनी अपवित्र कार्य, ब्रह्मचारी को मन, वाणी और कर्म से शुद्ध होना चाहिए।[9]

स्वामीजी स्वाध्याय प्रिय थे। उनके गुरु भाई प्रायः स्थानीय पुस्तकालय से उनके लिए पुस्तकें ले आते थे वे एक दिन में ही पढ़ लेते थे। प्रतिदिन पुस्तकें लाना और दूसरे दिन लौटाने का क्रम चलता रहता था। ग्रन्थपाल ने सोचा कि स्वामीजी पढ़ने का प्रदर्शन कर रहे हैं और यह विचार उसने गुरुभाई के समक्ष रखा। जब स्वामीजी को यह बात ज्ञात हुई तो उन्होंने ग्रन्थपाल सम्मुख कहा कि "मैंने पुस्तकों को अच्छी तरह से पढ़ा है अगर आपको सन्देह है तो आप किसी भी पुस्तक से प्रश्न पूछ सकते हैं।" गुरुभाई ने ऐसा ही किया स्वामीजी ने सभी प्रश्नों के उपयुक्त उत्तर दिये। इसी प्रकार खेतड़ी प्रवासकाल में स्वामीजी द्वारा जल्दी-जल्दी पृष्ठों को उलटते देखते-देखते पूरी पुस्तकें पढ़ते देखकर राजा अजीत सिंह ने पूछा—"ऐसा कैसे संभव है ? स्वामीजी ने विस्तार से समझाते हुये बताया कि एक छोटा लड़का जब पढ़ना सीखता है तब वह एक एक अक्षर को दो तीन बार उच्चारण कर शब्द को पढ़ सकता है। तब उसकी नजर एक अक्षर के ऊपर रहती है और कुछ दिनों में सीखने के बाद वह अक्षरों के अनुसार नहीं पढ़ता तब उसकी नजर रहती है एक-एक शब्द के ऊपर। निरन्तर अभ्यास के बाद वह एक दृष्टि में एक वाक्य पढ़ सकता है। इसी प्रकार क्रमशः भाव को ग्रहण करने की क्षमता को बढ़ाये जाने से, एक दृष्टि में एक पृष्ठ पढ़ा जा सकता है और वे उसी तरह पढ़ सकते हैं। वे आगे कहते हैं कि "यह केवल अभ्यास है। ब्रह्मचर्य और एकाग्रता का परिणाम, कोई भी कोशिश करने में सफल हो सकता है।

उन्होंने एकाग्रता के लिए ब्रह्मचर्य के साथ

अनासक्ति के अभ्यास को भी आवश्यक माना। अनासक्ति के अभाव में एकाग्रता गलत दिशा की ओर मुड़ सकती है। वस्तुतः एकाग्रता और अनासक्ति दोनों ही संयुक्त आदर्श हैं। उन्होंने अग्रांकित किया -"मैं तो मन की एकाग्रता को ही शिक्षा का यथार्थ सार समझता हूँ। ज्ञातव्य विषयों के संग्रह को नहीं। यदि एक बार मुझे फिर शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिले तो मैं विषयों का अध्ययन नहीं करूँगा। मैं तो एकाग्रता की तथा मन को विषय से अलग कर लेने की शक्ति को बढ़ाऊँगा और तब साधन अथवा यंत्र की पूर्णता प्राप्त होने पर इच्छानुसार विषयों का संग्रह करुँगा।[10]

स्वामीजी ने 'राजयोग, नामक ग्रन्थ अपनी शिष्या कुमारी एस० इ० वाल्डो को बोलकर लिखाया था उसका वर्णन करते हुये वे लिखती हैं —"इन सूत्रों पर अपनी व्याख्या लिखाते समय वे मुझे प्रतीक्षारत छोड़कर गहन एकाग्रता एवं ध्यान में डूब जाते और वहाँ से कोई प्राँजल व्याख्या लेकर लौटते। मुझे सदा अपनी कलम को स्याही में डूबोये रखना पड़ता था। कभी-कभी बहुत काल तक वे अपने आप में डूबे रहते और अचानक ही एक उत्कण्ठित व्याख्या अथवा किसी लम्बे सुविचारित उपदेश के साथ अपना मौन भंग करते। उनके 'राजयोग' ग्रंथ से हार्वार्ड के विख्यात दार्शनिक विलियम जेम्स बहुत प्रभावित हुए और टालस्टाय तो नवीन उत्साह से भर उठे। इसमें पतंजलि के योग सूत्रों के अनुवाद के साथ उनकी अपनी व्याख्या एवं टिप्पणियां अंकित की गयी हैं। इसमें मन को एकाग्र करने की अनेक विधियों का उल्लेख किया गया है। इस ग्रन्थ से दो लक्ष्यों की पूर्ति हुई। प्रथम, स्वामीजी ने यह दर्शाया कि किस प्रकार धार्मिक अनुभूतियाँ भी प्रयोगीकरण निरीक्षण तथा सत्यापन की प्रणाली पर आधारित होने के कारण वैज्ञानिक सत्यों की श्रेणी में रखी जा सकती है। अतः सच्ची आध्यात्मिक अनुभूतियों को केवल बौद्धिक प्रमाण के अभाव में हठधर्मितावश त्याग नहीं देना चाहिए। द्वितीय स्वामी जी ने इसमें अपनी सहज, सुबोध सरल भाषा में एकाग्रता के विभिन्न साधनों की व्याख्या की और साथ ही संकेत किया कि एक सुयोग्य शिक्षक की सहायता लिये बिना इन साधनाओं की ओर उन्मुख होना खतरनाक साबित हो सकता है।

सारतः चित्तवृत्तियों के निरोध द्वारा मन को एकाग्र करने की विधि राजयोग कहलाती है। प्रत्येक व्यक्ति प्रतिदिन निर्धारित समय पर एक स्थिर आसन पर बैठकर अपने मन को एकाग्र करने का अभ्यास कर सकता है। इससे मन की विक्षिप्त शक्तियाँ केन्द्रित होंगी तथा इस संचित शक्ति का अन्यत्र क्षेत्रों में उपयोग कर शिक्षार्थी की स्मरण-शक्ति इस अभ्यास से प्रखर होगी तथा वह पहले से कम प्रयास के द्वारा अपने विषयों को ग्रहण कर सकेगा। इस प्रकार एकाग्रता से मन की शक्तियों की वृद्धि, आत्मविकास, बुद्धिबल का विकास इच्छाशक्ति का प्रवाह संयमित और उच्च नैतिक चरित्र का उन्नयन होगा। आज ऐसे ही मानव को प्रशिक्षण की नितान्त आवश्कता है।

संदर्भ —

1. भगवान बुद्ध का संसार को संदेश एवं अन्य व्याख्यान और प्रवचन, पृ. 138
2. वही, पृ. 58-59.
3. स्वामी विवेकानन्द, राजयोग, पृ. 58
4. भगवान बुद्ध का संसार को संदेश एवं अन्य व्याख्यान और प्रवचन पृ. 58
5. स्वामी विवेकानन्द, धर्म रहस्य, पृ. 46
6. राजयोग, पृ. 14 7. वहीं, पृ. 61-62
8. विवेकानन्द, शिक्षा, संस्कृति, समाज, पृ. 24-26
9. वहीं पृ. 26-27 10. वहीं, पृ. 26
11. स्वामी निखिलानन्द, विवेकानन्द एकजीवनी, पृ. 28-29

भगिनी निवेदिता

स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी

भगिनी निवेदिता की १२५वीं जयन्ती पिछले वर्ष मनाई गयी। यह खेद का विषय है कि निवेदिता जैसी महान राष्ट्रभक्त और सच्चे अर्थों में देश-प्रेमीका को भारत ने, विशेषकर आधुनिक पीढ़ी ने लगभग भुला ही दिया है। ऐसी स्थिति में निवेदिता की जयन्ती मना कर उनका स्मरण करने, तथा उनके जीवन से प्रेरणा प्राप्त करने का प्रयास, जो कुछ संस्थाओं द्वारा किया जा रहा है, निश्चित रूप से सराहनीय है।

भगिनी निवेदिता ने, अपने जीवन के अन्तिम समय में/उत्तरकाल में, रामकृष्ण मिशन का त्याग कर दिया था क्योंकि वे राजनीति से संयुक्त हो गयी थीं, और रामकृष्ण मिशन एक पूर्णरूप से अराजनैतिक संस्था है। फिर भी रामकृष्ण मिशन में निवेदिता को अत्यन्त सम्मान की दृष्टि से सदा देखा जाता था, मिशन को त्यागने के पहले और बाद में—दोनों ही अवस्थाओं में। यह केवल इसलिए नहीं कि वे स्वामी विवेकानन्द की शिष्या थीं, बल्कि इसलिए कि उन्होंने स्वामी विवेकानन्द के उपदेशों को गहराई से समझा था, तथा उन्हें कार्यरूप में परिणत करने का सच्चा प्रयास किया था। मिशन में तो ऐसी मान्यता है कि यदि श्रीरामकृष्ण को समझना हो तो पहले स्वामी विवेकानन्द के साहित्य का अच्छी तरह अध्ययन करना चाहिए। और यदि स्वामी विवेकानन्द को समझना हो तो भगिनी निवेदिता के जीवन और साहित्य का गहराई से अध्ययन किया जाना चाहिए। मिशन के अनेक वरिष्ठ संन्यासी निवेदिता का नाम सुनते ही गद्‌गद् हो जाया करते थे तथा उनके प्रति आदर, स्नेह और सम्मान की भावना से अभिभूत हो जाया करते थे। और जब हम निवेदिता की जीवनी पढ़ते हैं, तो उनके साहस, दृढ़ता पवित्रता, निःस्वार्थता और भारत के लिए अपने सर्वस्व के बलिदान की उनकी गाथा जान कर श्रद्धा से नतमस्तक हुए बिना नहीं रह सकते। स्वामी विवेकानन्द ने एक पत्र में निवेदिता को लिखा था : "आवश्यकता है एक स्त्री की, पुरुष की नहीं; सच्ची सिंहनी की जो भारतीयों के लिए, विशेषकर स्त्रियों के लिए काम कर सके।" और ऐसी ही एक सिंहनी थीं भगिनी निवेदिता। उनकी शिक्षा, सच्चा भाव, पवित्रता, महान प्रेम और दृढ़ता के कारण स्वामी विवेकानन्द ने उन्हें भारत के लिए, विशेषकर नारियों के लिए अत्यन्त उपयुक्त नारी पाया था।

भारत के लिए निवेदिता के अभूतपूर्व त्याग का थोड़ा सा अनुमान इतने से ही लगाया जा सकता है कि एक स्वाभिमानी अंग्रेज महिला होते हुए भी उन्होंने अपने को पूर्णरूप से भारतीय बना डाला था। उन्हें अपना स्वदेश, इंगलैण्ड त्यागकर एक भिन्न देश में अर्धनग्न भारतीयों के बीच रहना पड़ा जिनकी संस्कृति, रहन-सहन, विचार-चिन्तन आदि अत्यन्त भिन्न थे। उस समय भारतवासी, विशेषकर बंगाल के लोग जातिवाद और पृथकतावाद और छुआछूत आदि के विचारों, एवं नाना संस्कारों कुसंस्कारों से पूर्ण थे। भयंकर गर्मी में, तथा विलायती जीवन के आराम की

समस्त सामग्रियों के अभाव में वे सहर्ष रहीं। ये भौतिक असुविधाएं, दैहिक स्तर के ये परिवर्तन तो हम सहन कर भी लें, लेकिन विशेषता तो यह है कि उन्होंने अपनी मनःस्थिति तक को पूरी तरह परिवर्तित करके उसे संपूर्ण रूप से भारतीय बना डाला था।

निवेदिता ने स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्व एवं उनके उपदेशों से प्रभावित होकर स्वामीजी के देशवासियों के लिए अपने को न्यौछावर कर दिया था। स्वामीजी ने निवेदिता को स्पष्ट रूप से बता दिया था कि वे स्वयं की सेवा के लिए नहीं बल्कि सत्य की सेवा के लिए उनका आह्वान कर रहे हैं। इस संदर्भ में प्रेम व श्रद्धा का, त्याग और सेवा का अर्थ ही भिन्न हो जाता है। लेकिन निवेदिता ने कल्पना तक नहीं की थी कि त्यागपूर्ण सेवा का अर्थ अपने पुराने व्यक्तित्व को पूरी तरह त्यागना, भूलना, नष्ट करना है। यही कारण है कि दीक्षा के बाद जब एक दिन स्वामी विवेकानन्द ने उनसे पूछा कि वे किस राष्ट्र की हैं, तो निवेदिता ने स्वामीजी को यह कहकर चौंका दिया कि वे इंगलैंड की हैं, तथा उन्होंने ब्रिटिश झंडे के प्रति अपनी वफादारी बड़े गर्व से व्यक्त की। तब स्वामीजी समझे कि निवेदिता का भारत-प्रेम छिछला ही है। उस समय तो स्वामीजी कुछ नहीं बोले, लेकिन बाद में उन्होंने निवेदिता के इगलेंड के प्रति प्रेम पर करारे प्रहार प्रारम्भ कर दिये। अंग्रेजों ने भारत में ब्रिटिश प्रभुत्व के समय जो अत्याचार किये थे, निवेदिता उनसे अनभिज्ञ थीं। स्वामीजी उन सभी को निवेदिता के समक्ष रखते हुए उनके पूर्व-संचित विचारों और पूर्वाग्रहों को नष्ट करते गये। इसका कारण यह है कि सच्चा भारतीय हुए बिना, भारत की अच्छाइयों और बुराइयों दोनों को स्वीकार किये बिना अर्थात् भारत जैसा है, उसे उसी तरह यथार्थ में स्वीकार किये बिना कोई सच्चे अर्थों में भारत की सेवा नहीं कर सकता। कोई विदेशी, पर्यटक की तरह आये और एक संरक्षक की तरह कुछ उपदेश देकर चला जाय, यह स्वामीजी सहन नहीं कर सकते थे। भारत की सेवा भारतीय तरीके से ही की जा सकती है क्योंकि मन-प्राण से भारतीय हुए बिना, अन्दर-बाहर पूरी तरह भारतीय हुए बिना भारतीय चेतना को समझना संभव नहीं है और भारतीय चेतना के साथ एक हुए बिना भारत की मौलिक गहरी समस्याओं और बृहत्तर प्रश्नों का समाधान नहीं पाया जा सकता।

तात्पर्य यह है कि निवेदिता को भारत की सेवा करने, तथा सच्चे मायने में तैयार करने के पूर्व अपनी अंग्रेजियत तथा यूरोपीय ढंग से वस्तुओं को देखना और समझना पूरी तरह त्यागना पड़ा था तथा एक सच्चा भारतीय, एक सच्चा हिन्दू होना पड़ा था। और जब हम निवेदिता की जीवनी को, 'काली' पर दिये गये उनके व्याख्यान को, तथा भारत-विषयक अन्यान्य लेखों को पढ़ते हैं, तो हम आश्चर्य चकित हो जाते हैं, यह देखकर कि वे कितनी हिन्दू हो गयीं थीं, और भारत को कैसा निःस्वार्थ प्रेम करती थीं।

और आज हम हैं, जो जन्म से भारतीय होते हुए भी भारतीय नहीं हैं। हमारी वेश भूषा, रहन-सहन, रुचियों, आहार, यहाँ तक कि हमारे विचार और चिन्तन कितनी तेजी से यूरोपीय होते चले जा रहे हैं। हम शहर वासी तो विदेशी ही हो गये हैं, जो अपने गरीब ग्रामीण भाइयों को घृणा की दृष्टि से देखने लगे हैं। न हम भारत को जानते हैं, न जानना चाहते हैं। विदेशी विचारों को खरीद कर, स्वयं को बुद्धिमान समझ कर हम भारत की उन्नति का अधूरा प्रयत्न कर रहे हैं। काश, स्वामी विवेकानन्द की तरह हमारी ताड़ना करने वाला कोई होता।

देवलोक

स्वामी अपूर्वानन्द
अनुवाद—स्वामी ज्ञानातीतानन्द
ब्रह्मचारी मुकेश

ठाकुर, स्वामीजी और उनके संघ के प्रति आकर्षण :

मैं बचपन से ही ग्राम के शिव मंदिर, शीतला और मनसा मंदिर में नित्य दो बार प्रणाम और प्रार्थना करने जाता था। दैवयोग से १९१६ ईस्वी में स्वामी विवेकानन्द का नाम सुनकर और उनकी दो पुस्तकें पढ़ कर देशसेवा में आत्म-नियोग करने की तीव्र आकांक्षा मेरे मन में जगी। स्वामीजी ने देश के युवकों को संबोधन करके कहा था : आगामी पचास वर्ष तक देश ही तुम लोगों के लिए आराध्य देवता हो—उनके इस आह्वान ने मन में आग जला दी थी और मैंने विप्लवी दल में नाम लिखा लिया था। तब मेरी उम्र सोलह साल की थी। किन्तु १९१७ ईस्वी के प्रारम्भ में मानो दैव निर्देश से चलकर एक अचिन्तनीय उपाय के द्वारा श्री रामकृष्णदेव के एक पुराने भक्त, जिन्हें इसके पहले श्री श्री माँ एवं स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी शिवानन्द, स्वामी प्रेमानन्द और स्वामी तुरीयानन्द आदि विशिष्ट पार्षदों का अनेक बार दर्शन और उन लोगों का आशीर्वाद प्राप्त करने का सौभाग्य मिला था, उनके मुख से विशेष कर ठाकुर, स्वामीजी एवं महापुरुष महाराज की बातें सुन कर अचानक मेरे मन की गति में विपुल परिवर्तन हुआ। मैंने समझ लिया मेरे जीवन का उद्देश्य क्रांतिकारी स्वाधीनता संग्राम नहीं है। ठाकुर, स्वामीजी और उनके संघ का आदर्श विशेष रूप से मुझे आकृष्ट करने लगा। ठाकुर और स्वामीजी की बातें सुनने में अच्छी लगतीं। इन्हीं भक्त श्रेष्ठ द्वारा प्रतिष्ठित आश्रम, जहाँ पर नित्य ठाकुर, स्वामीजी की पूजा, भजन कीर्तन, पाठ आलोचना इत्यादि होते—उस आश्रम में बीच बीच में रहने लगा। उन सब दिनों की मधुमय स्मृति आज भी प्राणों में विमल आनंद भर देती है।

तभी से महापुरुष महाराज के प्रति एक अज्ञात आकर्षण अनुभव करता था। उनको देखा नहीं था फिर भी इन भक्त प्रवर से जितना सुना था उससे मालूम होता था कि उनका जीवन श्रीरामकृष्णमय है। वे ब्रह्मज्ञ पुरुष हैं और मनुष्य को ईश्वर लाभ के पथ में सहायता करने के लिए उत्सुक रहते हैं।

१९१८ ईस्वी मेरे जीवन में एक शुभ क्षण ले कर आयी थी। इसी उम्र में मैंने प्रथम बार वर्त-मान युग के महातीर्थ पुण्यतीर्थ बेलुड़ मठ का दर्शन किया एवं पूज्यपाद महापुरुष महाराज तथा खोका महाराज का साक्षात परिचय प्राप्त किया। इसके बाद बाग बाजार में श्री श्री माँ के घर में उनका दर्शन और आशीर्वाद एवं स्नेह लाभ, स्वामी सारदानन्द महाराज का दर्शन एवं बलराम मंदिर में राजा महाराज और स्वामी तुरीयानन्द महाराज की पद धूलि और आशीर्वाद पाकर धन्य हुआ। कुछ दिनों बाद ही एक शुभ दिन प्रथम बार मैं बेलुड़ मठ दर्शन के लिए गया एवं

इस पुण्य भूमि के गंगा तट पर साधु महापुरुषों के संग ८-१० दिनों के निवास के बीच में ही श्रीरामकृष्ण की आत्म-गोष्ठी का अत्यधिक कृपा-लाभ मेरे जीवन का अक्षय आध्यात्मिक संपद, यादगार एवं समस्त जीवन का पथ प्रदर्शक हुआ।

एक तात्पर्यपूर्ण स्वप्न : मेरे बेलूड़ मठ-दर्शन का एक छोटा और अलौकिक इतिहास है। मैंने एक रात स्वप्न में वृक्ष लताओं से शोभित नदी के तीर पर, कमरे और दालान से युक्त अत्यन्त शांत परिवेश के बीच संन्यासियों के एक आश्रम का दर्शन किया। इस मठ में ध्यान-मग्न संन्यासी, ब्रह्मचारी और प्रकाशमय शरीर वाले एक वृद्ध संन्यासी वास करते हैं। इस स्वप्न-दर्शन के कुछ दिन बाद ही मेरे मन में एक विशेष आलोड़न हुआ। मैंने अस्थिर प्राण से एक दिन अपने परिचित भक्त प्रवर के पास इस स्वप्न वृतांत को कहा। उन्होंने सब कुछ सुन कुछ क्षण मौन रह कर कहा 'मुझे ऐसा लगता है कि तुमने स्वप्न में बेलूड़ मठ और महापुरुष महाराज समेत अनेक साधुओं के दर्शन किये। इस विषय का सत्य-असत्य निर्णय करने के लिए तुमको बेलूड़ मठ जाना चाहिए। वहाँ पर जाने से इस स्वप्न की वास्तविकता का निर्णय कर सकोगे। इन्हीं भक्त श्रेष्ठ के उपदेश के अनुसार मैंने बेलूड़ मठ जाने का निश्चय किया और तदनुसार संक्षेप में स्वप्न वृतांत लिख कर बेलुड़ मठ दर्शन की अनुमति की प्रार्थना करते हुए महापुरुष महाराज को पत्र लिखा। उन्होंने इस पत्र को पाकर शीघ्र ही अनुमति प्रदान की। इस अनुमति पत्र को लेकर मैंने एक शुभ दिन बेलुड़ मठ दर्शन के लिए यात्रा की एवं दूसरी संध्या को कलकत्ता पहुँच कर पूर्व व्यवस्था के अनुसार बाग बाजार में एक मित्र के घर में आश्रय लिया।

देवलोक में प्रथम दिन : दूसरे दिन प्रातः काल साढे छः बजे नौका से बेलुड़ मठ पहुँचा। नाविक ने बेलूड़ मठ के खिया घाट पर उतार दिया। गंगा के वक्ष से बेलूड़ मठ दिखाई रहा था। खिया घाट में लोगों से पूछ कर एक निर्जन पगडंडी रास्ते से बेलुड़ मठ की ओर चल दिया एवं दक्षिण दिशा में खुले हुए द्वार से बेलूड़ मठ में प्रवेश करके रोमांचित हुआ। यही तो स्वप्न में देखा हुआ मठ ! सम्पूर्ण मन और प्राण में आनन्द से कम्पन हुआ। विह्वल चित्त से मठ की धूलि कण को मस्तक पर धारण किया। निर्जन परिवेश। सामने ही फूल तोड़ते हुए एक ब्रह्मचारी महाराज को देखा। दाहिनी तरफ गंगा तीर पर वृक्षलताओं से घिरा हुआ एक छोटा मंदिर। ब्रह्मचारी महाराज को पूछने पर हँसते हुए वे धीरे धीरे मठ के अन्दर मंदिर की ओर ले गये। रास्ते में एक और ब्रह्मचारी को फूल तोड़ते हुए देखा। संकीर्ण मार्ग पर चलते हुए गंगा के किनारे मठ की ओर चला। दो तरफ से उच्च दालान में घिरे हुए मठ के विशाल मैदान में आम के पेड़ के नीचे पहुँचा। तब एक साधु ने दालान से सीढ़ी से दूसरी मंजिल पर जाने का संकेत किया। सीढ़ी से दूसरी मंजिल पर उठ कर ठाकुर मंदिर के बरामदे में माँ काली और कुछ संन्यासियों के बड़े चित्र देख कर मन ही मन प्रणाम किया। इसके बाद ठाकुर घर में प्रणाम करते ही संपूर्ण मन-प्राण एक दिव्य आनन्द से भर गया। मन्दिर का शांत परिवेश, दिव्य पवित्र सुगंध, पटमूर्ति में मानो जीवन्त कृपा मूर्ति से बैठे हैं—इस सब के प्रभाव से भावविभोर हो कर ठाकुर को प्रणाम कर उनकी तरफ देखते हुए बैठा रहा। करुणावतार ठाकुर को देखते ही अभिभूत हो गया। वे मानो संसार का समस्त गांभीर्य, परिपूर्णता और आनन्द लेकर बैठे हैं। उस समय तक मंदिर में पूजा आदि आरम्भ नहीं हुई थी। पूजा का आयोजन चल रहा था। सेवकगण पुष्प पात्र और अन्यान्य पूजा के उपकरण लेकर मंदिर में आना जाना कर रहे थे।

गोपाल

स्वामी विवेकानन्द

[यह कहानी स्वामीजी को अत्यन्त प्रिय थी। इसे उन्होंने अंग्रेजी में लिखा था — सं०]

"माँ, वन में से होकर अकेले-अकेले पाठशाला जाने में मुझे डर लगता है। पाठशाला जाने के लिए या घर लौटने के लिए सभी लड़कों के साथ कोई न कोई होता है। मेरे साथ क्यों कोई नहीं जाता है ?" जाड़े की एक शाम गोपाल ने यह सब अपनी माँ से कहा। वह तब पाठशाला जाने की तैयारी कर रहा था। हर सुबह और शाम को पाठशाला में लड़के जाते थे। जाड़े के दिन थे। पाठशाला में छुट्टी हो या न हो संध्या हो जाती थी। गोपाल के लौटने का मार्ग था एक वन में से होकर।

गोपाल की माँ विधवा थी। गोपाल के पिता ने अपने संसार की उन्नति के लिए कभी प्रयत्न नहीं किया। वे ब्राह्मण थे एवं सिर्फ ब्राह्मण का ही कर्त्तव्य वह पालन करते थे। पढ़ना, पढ़ाना एवं पूजा इत्यादि में ही वे लीन रहते थे। गोपाल के पिता की जब मृत्यु हुई तब गोपाल नितांत शिशु था। गोपाल की माँ ने तब स्वयं को सांसारिक गतिविधियों से अलग कर लिया। अपना कहकर उन्होंने किसी चीज को नहीं माना। ईश्वर पर सम्पूर्ण आस्था रख वे दिन-रात पूजा-उपवास करके ही बिता देती थीं।

स्वामी-स्त्री का सम्पर्क जन्म-जन्मान्तर का होता है। उसके सुख-दुख, उसके अनन्त जीवन-पथ की सारी अच्छी-बुरी बातों के समभागी चिरसाथी का साथ पाने के लिए गोपाल की माँ सदा मृत्यु की प्रतीक्षा करती रहतीं। वे छोटी सी कुटिया में रहतीं। जमीन का एक छोटा सा टुकड़ा भी गोपाल के पिता उसकी शिक्षा के लिए छोड़ गए थे। उसमें धान उपजता एवं उसी से गोपाल और उसकी माँ का निर्वाह होता। उस पर्णकुटीर के चारों ओर भी थोड़ी सी जमीन थी। उसपर कुछ नारियल एवं लीची के पेड़ थे एवं पड़ोसियों की सहायता से कुछ शाक-सब्जियाँ भी उपजती थीं। इसके अतिरिक्त गोपाल की माँ चरखे पर सूत कातती। उससे ही सारा खर्च चल जाता।

नारियल के हरित-शीर्षों पर सुनहरी किरणों के प्रक्षेपण के पहले ही, वृक्षों पर पक्षियों की चहचहाहट के बहुत पहले ही वे उठ जाती थीं एवं बिस्तर पर बैठी रहतीं। जमीन पर एक दरी, उसपर एक कम्बल—यही उनका बिस्तर था। बिस्तर पर बैठे-बैठे ही गोपाल की माँ अतीत की महान् नारियों एवं ऋषियों को प्रणाम करती, शिव एवं नारायण का नाम लेतीं। परन्तु सबसे प्रिय थी उन्हें कृष्ण की गोपाल मूर्ति। समस्त अन्तर से वे गोपाल को स्मरण करतीं।

धूप निकलने के पूर्व ही वे नदी में जाकर नहा आतीं। स्नान करने के समय गोपाल की माँ हाथ जोड़कर प्रार्थना करतीं, "हे भगवान, नदी के जल में शरीर का जिस प्रकार परिष्करण हो जाता है, मेरे अन्तर को भी वैसे ही निर्मल कर दो।"

उसके बाद वे एक धुला सफेद वस्त्र पहनतीं, ताजे फूल तोड़तीं, तुलसी के पत्ते इकट्ठे करतीं, और एक गोल पत्थर पर चन्दन घिसकर सुगंध तैयार करतीं। केवल पूजा के लिए ही इन सारी

...ोजों का प्रयोग होता था। पूजा घर में एक सिंहासन पर मखमल की गद्दी पर श्रीकृष्ण की एक गोपाल मूर्ति थी। गोपाल के सिर पर एक रेशमी बिंदी सुशोभित होती रहती। गोपाल का आसन सर्वदा फूलों से ढका रहता।

ईश्वर को संतान के रूप में, गोपाल के वेश-रूप में भजने से ही उनका मातृ-हृदय तृप्त होता। उनके स्वामी पण्डित थे। अपने स्वामी से वे अनेक धर्मकथा सुनती थीं। सभी जिस ग्रन्थ को मानते हैं—वह है वेद। वेद में कहा गया है कि ईश्वर का कोई रूप नहीं है—वे अरूप, असीम हैं। वे स्वामी की बातों को बड़े ध्यान से सुनतीं। शास्त्रों एवं वेदों में जो सारी बातें हैं वे सब सत्य हैं। इस सम्बन्ध में गोपाल की माँ के मन में तनिक भी संदेह नहीं था। मन ही मन वे सोचतीं, 'ये सारी बातें मेरे लिए नहीं हैं। मैं तो अत्यन्त दुर्बल-सी मूर्ख नारी हूँ। 'फिर उनके मन में विचार आया, "अच्छा शास्त्रों में यह भी तो लिखा है कि सभी मनुष्य अपने-अपने पथ पर चलते हैं। जो जिस रूप में ईश्वर की कामना करता है, उसी रूप में वे उसे मिलते हैं।"

ये बातें उसके मन को शांति पहुँचाती थीं। उसके बाद वे कुछ न सोचतीं। गोपाल की उस छोटी मूर्ति पर ही उनकी सारी भक्ति, सारा विश्वास एवं प्रेम आश्रित था। उन्होंने यह भी सुना था कि हाड़-मांस द्वारा निर्मित जीवन्त मनुष्य की जैसे सेवा की जाती है, ठीक उसी प्रकार से सेवा करने पर ईश्वर ग्रहण करते हैं।

अपनी आँखों के तारे एक मात्र संतान को जैसे मातृरूप में, अभिभावक रूप में जितनी सेवा की जा सकती है, वैसी ही सेवा वह अपने प्राणों के देवता गोपाल की करती। अपने को वे वहाँ छोटा नहीं समझती थी। स्वयं को वे मातृत्व का दर्जा देतीं। ईश्वर (गोपाल) तो शिशु है, उसकी गोद का बच्चा है।

स्नान करके आकर वे गोपाल को सजातीं, धूप-बत्ती, जलाकर अराधना करतीं। परन्तु नैवेद्य? भगवान गोपाल को वे क्या खाने को देतीं? अत्यन्त गरीब थीं गोपाल की माँ। गोपाल को उपयुक्त भोजन प्रदान करने की सामर्थ्य उनमें न थी। यह बात याद आते ही उनकी आँखें नम हो जातीं, परन्तु साथ ही साथ उन्हें अपने स्वामी की बात याद आती। शास्त्रों से वे पढ़कर सुनाते थे, "फल-फूल, पत्र-जल, मेरे भक्त भक्तिभाव से विह्वल हो मुझे जो भी देते हैं, मैं उन्हें परम आह्लाद के साथ ग्रहण करता हूँ।

दो फूल गोपाल के चरणों में निवेदित कर वे कहतीं, "गोपाल, तुम्हारे प्रताप से ही पृथ्वी के सारे फूल खिलते हैं, मेरे द्वारा दिए गये दो सामान्य फूलों को ग्रहण करो। सारे जगत् को तुम आहार देते हो, फिर भी मेरे द्वारा समर्पित इन फूलों को रख लो। मैं अक्षम हूँ, मैं मूर्ख हूँ। मैं नहीं जानती, कैसे तुम्हें बुलाया जाता है। मेरे गोपाल, मेरे प्राणों के गोपाल, मैं नहीं जानती कैसे तुम्हें पूजा की जाती है। मेरी पूजा को तुम शुद्ध करो। मेरी भक्ति को निर्मल करो। इस आराधना से कुछ पुण्य होता हो, तो वह तुम्हें ही समर्पित है, मुझे सिर्फ भक्ति दो। मुझे और कुछ नही चाहिए।

जब उन्हें पुत्र की प्राप्ति हुई थी तब उन्होंने अपने उपास्य देवता के नाम पर ही पुत्र का नाम रखा था गोपाल। संसार के सारे कार्य वे ही करतीं। परन्तु संसार से तनिक भी लगाव उन्हें न था। सिर्फ पुत्र ने ही उनके संसार को बांध रखा था। उनके अन्तर का सारा आनन्द, सारा प्यार उसी के ऊपर पूंजीभूत होता। एकमात्र

गोपाल के लिए ही वे जीवित रहीं। जीवन जो कुछ था, गोपाल के लिए था।

शिशु गोपाल को उन्होंने परम यत्न से पाला था। अब वह बड़ा हो चला था, पाठशाला जाने की उम्र हो गयी थी। गोपाल को उन्होंने इसलिए पाठशाला में भर्ती करवाया एवं जी-तोड़ परिश्रम कर उसकी जरूरत की चीजों को इकट्ठा किया।

गोपाल की जरूरत की चीजों का परिमाण अत्यंत कम था। जिस देश के मनुष्य एक दरी पर तेल प्रदीप के आलोक में अध्ययन करते हैं, उस देश के विद्यार्थियों को बहुत कम ही चीजों की आवश्यकता होती है। परन्तु इन सामान्य चीजों को जुटाने के लिए भी उस गरीब विधवा को बहुकाल तक चरखे पर सूत कातना पड़ा था।

गोपाल की माँ ने गोपाल को एक सूती धोती एवं चादर खरीद दी, और एक छोटा सा आसन दिया। इसी आसन पर वह बैठता और ताल-पत्र की पोथियाँ एवं दवात रखता। किसी एक शुभ दिन को जब गोपाल ने हस्तलेख लिखना शुरू किया था तब गोपाल की माँ के अन्तर में कितना आनन्द हुआ था, यह तो उन्हीं के जैसी कोई गरीब माता ही जान सकती है।

परन्तु आज दुःख की एक काली बदली दिखाई पड़ी। वन के मध्य से अकेले जाने में गोपाल डर रहा है। उनके दरिद्र, निःसंग विधवा-जीवन में उन्होंने इतनी वेदना कभी महसूस नहीं की थी। परन्तु यह सब क्षण-भर के लिए था। तभी उनके मन में यह बात आयी कि ईश्वर ने स्वयं प्रतिज्ञा की है, 'मेरे ऊपर सम्पूर्ण रूप से जो निर्भर करता है, उसे जो भी जरूरत होती है मैं उसे देता हूँ।"

शास्त्र वाक्यों में उनका अगाध विश्वास था। आँचल से आँखें पोंछकर उन्होंने गोपाल से कहा, "बेटे, वन में तुम्हारे भैया रहते हैं। वे गाय चराते हैं। जिनका नाम भी गोपाल है। वन मार्ग में यदि भय लगे, तो तुम अपने गोपाल भैया को बुलाना।"

गोपाल भी अपनी माँ का संस्कारी पुत्र था। माँ की बात पर उसने पूर्णतया विश्वास कर लिया।

उस दिन संध्या के समय लौटने के मार्ग में गोपाल को डर लगा। तभी उसे माँ की बात याद पड़ी। उसने बुलाया, "ओ मेरे गोपाल भैया, तुम क्या यहाँ हो ? माँ ने कहा है कि तुम यहीं रहते हो। अकेले-अकेले मुझे बड़ा डर लग रहा है।

गोपाल ने सुना कि वृक्ष के पीछे से किसी ने कहा, "नहीं भाई, नहीं तुम्हें कोई डर नहीं है। मैं यहीं हूँ। कोई भय नहीं है, तुम घर जाओ।"

उसके बाद वह रोज वन में जाता और गोपाल भैया को बुलाता और दूर से जवाब आता। पुत्र के मुँह से माँ ने यह सब सुना। वे समझ गयीं। आनन्द के मारे उनकी आँखों में पानी आ गया। उन्होंने पुत्र से कहा, "इस बार वन में जाकर फिर जब तुम्हारे गोपाल भैया पुकारेंगे, तो उन्हें सामने आने के लिए कहना।"

दूसरे दिन पाठशाला जाते समय गोपाल जब वन के अन्दर से जा रहा था, तब उसने नित्य की भाँति गोपाल भैया को पुकारा। रोज जैसा जवाब आता था, वैसा ही जवाब आया। परन्तु गोपाल ने पुनः कहा, "ओ मेरे गोपाल भैया, आज मेरे सामने आओ। मैं तुम्हें देखूँगा।

वृक्षों के पीछे से उत्तर आया, नहीं आज मैं व्यस्त हूँ। आज मैं नहीं आ सकूँगा।"

परन्तु गोपाल ने नहीं माना। सामने आने के लिए उसने बड़ा अनुरोध किया। अन्ततः वृक्षों के पीछे से एक गड़ेरिया बालक आकर खड़ा हुआ। चरवाहों सी पोशाक, मस्तक पर मयूर पंख, हाथ में बाँसुरी।

भैया को पा गोपाल खूब आनन्दित हुआ। भैया के साथ घण्टों वृक्ष पर चढ़कर वह फल-फूल तोड़-तोड़कर खेलने लगा। अन्त में पाठशाला का वक्त हो गया है, यह देख अत्यन्त अनिच्छा से वह पाठशाला गया। पाठशाला में जाकर वह पढ़ना-लिखना छोड़ केवल सोचने लगा कब वन में जाएं और गोपाल भैया संग खेलें।

दिन पर दिन बीतते गये। दुःखिनी माँ नित्य पुत्र के मुख से उनके खेल के बारे में सुनती। भगवान की अपार करुणा की बात सोच उनका अन्तर भर उठता। वे अपना वैधव्य भूल गयीं, दरिद्र-यातना भूल गयीं, उनके दुःख हजार गुणा आनन्द में परिवर्ति हो गये।

एक दिन गोपाल के शिक्षक महोदय ने पूर्वजों के प्रति श्रद्धा निवेदन के लिए एक उत्सव का आयोजन किया। ग्राम के छात्र शिक्षक को किसी प्रकार का वेतन नहीं देते थे। शिक्षक जितने छात्रों को शिक्षा दे सकते थे, उतने छात्रों को ही वे शिक्षा देते। पर विशेष उपलक्ष्यों पर छात्र अपनी इच्छानुसार जो-जो उपहार देते, वे ले लेते। गोपाल की पाठशाला में प्रत्येक छात्र ने भी शिक्षक महोदय को उपहार दिया। किसी ने रुपया, किसी ने वस्त्र, किसी ने अन्न आदि दिया। परन्तु गोपाल तो गरीब विधवा का पुत्र था। वह क्या देता? बाकी सब लड़के जब अपने उपहार शिक्षक को दे रहे थे, तब वे सारे अक्षम गोपाल की ओर देख-देख कर हँस रहे हैं।

अपनी अक्षमता पर गोपाल को बड़ा दुख हुआ। घर जाकर उसने माँ से कहा। परन्तु उपहार देने लायक कोई चीज गरीब विधवा के पास न था।

गोपाल की माँ सारा जीवन ईश्वर पर निर्भर करके ही चलती थीं यहाँ भी उन्होंने वही किया। उन्होंने पुत्र से कहा, "गोपाल अपने भैया से जाकर यह सब कहो। वे ही व्यवस्था कर देंगे।"

दूसरे दिन वन के पथ में भैया के साथ गोपाल की भेंट हुई। उनके पास गोपाल ने अपना दुख सुनाया और गुरुदेव के लिए उपहार माँगा।

"भाई गोपाल, "गोपाल भैया ने कहा," तुम तो देख ही रहे हो, मैं एक सामान्य चरवाहा हूँ। तुम्हारे गुरु को देने लायक रुपया-पैसा मेरे पास नहीं है। यह दूध का पात्र ले जाओ। यही तुम उन्हें दे दो। हम छोटे गरीब चरवाहे का क्या सामर्थ्य है।"

उपहार पाकर गोपाल बड़ा खुश हुआ। सामान्य हुआ तो क्या हुआ। वह गुरु को कुछ दे तो सकेगा। उपहार लेकर वह तुरन्त गुरुदेव के घर गया। वहाँ लड़के भीड़ में उपहार दे रहे थे। दूध की छोटी हँड़िया लेकर गोपाल सबके पीछे खड़ा हुआ। लड़के कितने प्रकार के उपहार लाये थे। अनाथ गोपाल के उपहार को देखने का अवसर उन्हें न था। उनकी अवहेलना पर गोपाल को बड़ा दुख हुआ। आँखें भर आयीं।

ऐसे में अचानक गुरुदेव की नजर उसपर पड़ी। उसके हाथ से उन्होंने हँड़िया ली एवं बड़े पात्र में उसे डाला। गोपाल को हँड़िया लौटाते समय उन्होंने देखा कि एक अद्भुत काण्ड हुआ। हँड़िया फिर दूध से भर गई। इस प्रकार जितना वे दूध उड़ेलते ताकि हँड़िया खाली हो जाए, उतना दूध फिर भर जाता।

इस अद्भुत घटना पर सब चकित रह गये। गोपाल को अपने पास खींच गुरुदेव ने पूछा, "गोपाल, तुमने यह हँड़िया कहाँ से पायी?"

गोपाल ने तब अपने चरवाहे भैया के बारे में बताया। बुलाने पर वे कैसे जबाब देते हैं, कैसे उसके साथ खेलते हैं, दूध का यह पात्र उसने

उन्हीं से मांगा है, यह सब उसने बताया। सुनकर गुरुदेव ने पूछा, तुम वन में चलकर क्या गोपाल भैया से मुझे मिलवा सकते हो?"

आनन्दपूर्वक उसने गुरु को साथ ले वन की ओर प्रस्थान किया। वन में जाकर उसने गोपाल भैया को पुकारा। परन्तु कोई जवाब न आया। बार-बार वह पुकारता, परन्तु कोई उत्तर नहीं आता। तब वह रो-रोकर कहने लगा, "भैया, यदि तुम न आओगे तो गुरुजी सोचेंगे कि मैं झूठ कहता हूँ। ओ गोपाल भैया, तुम एक बार जवाब दो।

बहुत दूर से गोपाल भैया की आवाज सुनाई पड़ी, "तुम्हारी और तुम्हारी माँ की भक्ति के फलस्वरूप ही तुमलोगों के पास आया हूँ। अपने गुरुदेव से कहो कि उन्हें बहुकाल तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।"

गोस्वामी तुलसीदास जयन्ती : २४ जुलाई

मानव वाटिका के सुरभित पुरुष

शरच्चन्द्र पेंढारकर, भोपाल

निज प्रभुमय देखहिं जगत्

एक बार गोस्वामी तुलसीदासजी रात्रि को कहीं से लौट रहे थे कि सामने से कुछ चोर आते दिखायी दिये। चोरों ने तुलसीदासजी से पूछा, "कौन हो तुम?" उत्तर मिला, "भाई, जो तुम, सो मैं।" चोरों ने उन्हें भी चोर समझा, बोले, "मालूम होता है नये निकले हो। हमारा साथ दो।"

चोरों ने एक घर में सेंध लगायी और तुलसीदासजी से कहा, "यहीं बाहर खड़े रहो। अगर कोई दिखायी दे, तो हमें खबर कर देना।"

चोर अन्दर गये ही थे कि गोसाईं जी ने अपनी झोली में से शंख निकाला और उसे बजाना चालू किया। चोर ने आवज सुनी, तो डर गये और बाहर आकर देखा तो तुलसी दासजी के हाथ में शंख दिखायी दिया। उन्हें खींचकर वे एक ओर ले गये और पूछा, 'शंख क्यों बजाया था?"

"आपने ही तो बताया था कि जब कोई दिखायी दे तो खबर कर देना मैंने अपने चारों तरफ देखा, तो मुझे प्रभु रामचन्द्रजी दिखायी दिये। मैंने सोचा कि आप लोगों को उन्होंने चोरी करते देख लिया है और चोरी करना पाप है, इस लिए वे जरूर दण्ड देंगे, इसलिए आप लोगों को सावधान करना उचित समझा।"

"मगर भगवान् रामचन्द्रजी तुम्हें कहां दिखायी दिये" एक चोर ने पूछ ही लिया।

"भगवान् का वास कहां नहीं है? वे तो सर्वत्र हैं, अन्तर्यामी हैं और उनका सब तरफ वास है। मुझे तो इस संसार मे वे सब तरफ विराजमान दिखायी दे रहे हैं, तब किस स्थान पर वे दिखायी दिये, कैसे बताऊँ?" – तुलसीदासजो ने जवाब दिया।

चोरों ने सुना तो समझ गये कि यह कोई चोर नहीं, महात्मा है। अकस्मात् उनके प्रति श्रद्धा-भाव जागृत हो गया और वे उनके पैरों पर गिर पड़े। उन्होंने फिर चोरी करना छोड़ दिया और वे उनके शिष्य हो गये।
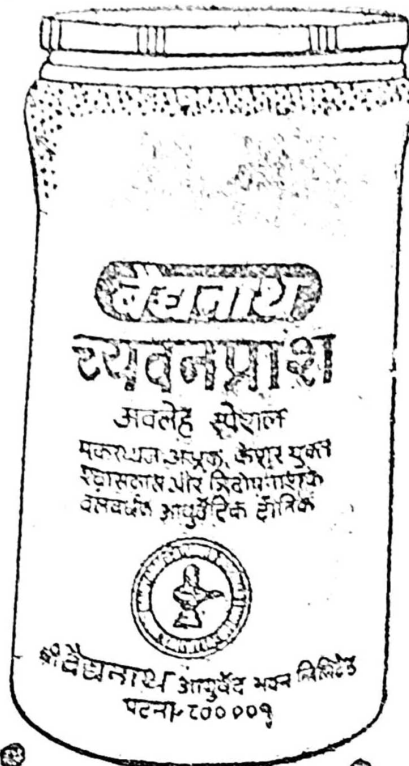
बैद्यनाथ च्यवनप्राश
अब पोलीजार में
उपलब्ध
कफ खांसी नाशक
दिमागी ताजगी
यौवन
विकास
बलवर्द्धक
बैद्यनाथ
च्यवनप्राश
अवलेह स्पेशल
श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड
पटना-८०० ००१
आदर्श आयुर्वेदिक
पारिवारिक टॉनिक
कहीं आपके डिब्बे में "मोपेड" तो नहीं ?
प्रत्येक एक किलो स्पेशल और साधारण एवं ५०० ग्राम
स्पेशल च्यवनप्राश के डिब्बे में इनामी कूपन प्राप्त कर
"मोपेड" एवं ३०६ अन्य पुरस्कार प्राप्त करने का
सुनहरा अवसर ।
बैद्यनाथ ७०० से अधिक दवाएं पांच आधुनिक कारखानों में तैयार करता
श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड
बैद्यनाथ भवन रोड, पटना-१